श्रीधादर्श

४१

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
जुलाई २०००

अब उपलब्ध

डॉ० शशि कान्त की शोध कृति

The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka

—द्वि० परिवर्द्धित संस्करण (2nd enlarged ed.) मूल्य रु० 295/-

प्रकाशक : D. K. Printworld (P.) Ltd.,
'Sri Kunj', F-52, Bali Nagar, New Delhi-110015

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन की लोकप्रिय कृति

Religion and Culture of the Jains

—चतुर्थ संस्करण (4th edition) मूल्य रु० 65/-

भारतीय इतिहास : एक दृष्टि

—तृतीय संस्करण मूल्य रु० 160/-

प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं (द्वितीय संस्करण)

प्रकाशक : Bharatiya Jnanpith—भारतीय ज्ञानपीठ,
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003

श्री रमा कान्त जैन की साहित्यिक कृति

गिलास आधा भरा है मूल्य रु० 50/-

प्र० : ज्ञानदीप प्रकाशन, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ २२६००४

हिन्दी भारती के कुछ जैन साहित्यकार

प्र० : जैन विद्या संस्थान, सवाई मानसिंह रोड, जयपुर-302004

प्रकाशनाधीन शोध कृतियां

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन कृत

The Jaina Sources of the History of Ancient India का द्वितीय संस्करण

डॉ० शशि कान्त कृत

Political and Cultural History of Mid-North India का द्वितीय संस्कारित संस्करण

डॉ० (श्रीमती) अलका अग्रवाल कृत

प्राकृत मुक्तक काव्य वज्जालग्गं : एक अध्ययन

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : (स्व.) डॉ० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध/प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन
महामन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ–२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

णाणं णरस्स सारं - सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श-४१

वीर निर्वाण संवत् २५२६ जुलाई २००० ई०

★ विषय-क्रम ★

१. गुरुगुण-कीर्तन : विद्यानन्द —श्री रमा कान्त जैन ११३
२. महाकवि स्वयंभू —डॉ० ज्योति प्रसाद जैन ११७
३. सम्पादकीय : समन्वय समिति के महत्वपूर्ण निर्णय —श्री अजित प्रसाद जैन १२४
४. आचार्य श्री विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी का समय-निर्धारण —डॉ० एम० डी० वसन्तराज १२६
५. जनपद ललितपुर के जैन स्मारक —डॉ० राम सजीवन शुक्ल १३४
६. Jaina-Dharma —डॉ० रंजन कुमार १३८
७. Tradition of Co-existence in India —डॉ० शशि कान्त १४४
८. विचार-विन्दु :
ई० सन् की २०वीं सदी की समाप्ति और २१वीं का प्रारम्भ —डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव १५२
—डॉ० शशि कान्त १५४
९. चिन्तन कण : सिद्धशिला का आकार —ब्र० अशोक जैन १५६
१०. जिज्ञासा : नवधाभक्ति और आर्यिका —पं० अमरचन्द्र जैन १५७
११. संस्मरण : दानी कर्ण आज भी हैं —श्री मूलचन्द जैन १५९

१२. Points to ponder : Precious Human Life
—श्री सुखमाल चन्द्र जैन १६१

१३. रिपोर्ट : डॉ० ज्योति प्रसाद जैन की १२वीं पुण्यतिथि
—श्री रमा कान्त जैन १६४

१४. परिचर्चा : कर्म-बन्ध —श्री प्रकाश चन्द्र जैन १६६
—श्री आदित्य जैन १६७
—श्री तिलोक मुनि १६७

१५. शोध विमर्श : कलिंग-जिन —श्री ज्ञानचन्द जैन १७०
—डॉ० शशि कान्त १७१

१६. साहित्य सत्कार

परम रत्नार्चना संग्रह; चारित्र शुद्धि व्रत (पूजा);
फूल नहीं ये कांटे हैं; तीर्थंकर ऐसे बनो;
आगम चक्खु साहु; तीर्थंकर वर्द्धमान;
नैतिक कथा मंजूषा (२); चैतन्य चिन्तन (१ व २);
पहले पूजा फिर काम दूजा; निस्पृही सन्त;
सिरि चंदप्पह सामि चरिय; अष्टक प्रकरणम्;
अलंकार दर्पण —श्री अजित प्रसाद जैन १७५

जैन विद्या गोष्ठी (२); साधना का महायात्री : प्रज्ञामहर्षि
श्री सुमनमुनि; कमल बत्तीसी; जीवनदान; रत्नकरण्ड श्रावकाचार;
अध्यात्म चन्द्र भजनमाला; दिगम्बर जैन मुनिसंघ और
आहार दान पर विचार; पशु-वध बन्दी हेतु पारित आदर्श निर्णय;
सल्लेखनामती की सल्लेखना; वर्द्धमान पञ्चांग;
मानस विनयावली; ब्रज विहार; मानस काव्य तरङ्गिणी;
प्रणय प्रसून; मनुवा मगन मगन है चोला; मानस भक्ति भावांजलि;
श्री दुर्गा स्तुति माला; सार्वजनीन स्वास्थ्य —श्री रमा कान्त जैन १७७

Dr. A. N. Upadhye : His Life and Accomplishments; Springs of Jaina Wisdom; Glimpses of Jain Philosophy and My Thoughts; Nandyavarta An Auspicious Symbol in Indian Art; Presidential Addresses (Asiatic Society); Jain Spirit;
पञ्चाल; जैन आगम; आपकी समस्या–हमारा समाधान;

सम्यक् विकास; मुक्ति पर्व; जैन प्रदीप; प्राकृत और जैनधर्म
का अध्ययन; हमारे पूर्वज—हमारे हितैषी; कराहता कुण्डलपुर;
हिन्दी साहित्य का इतिहास : समस्याएं और समाधान
—डॉ० शशि कान्त १८५

१७. समाचार विमर्श —श्री अजित प्रसाद जैन

दान-पर्व अक्षय तृतीया का जीवन्त अभिनय १९९

जिनवाणी बेदी प्रतिष्ठा २०२

जैन महातीर्थ पालीताना में मांस बिक्री २०३

मोरों की हत्या २०४

१८. अभिनन्दन २०५

१९. समाचार विविधा २०८

२०. शोक संवेदन २१४

२१. आभार २१५

२२. पाठकों की दृष्टि में २१६

डॉ० ओम प्रकाश त्रिवेद्री, प्रो० डॉ० आर० एस० शर्मा,
श्री शान्ति प्रकाश जैन, श्री दुलीचन्द जैन, डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव,
मुनि श्री विनयभद्र सागर, श्री तिलोक मुनि, श्री सुन्दर सिंह जैन,
पं० सुनील चैन 'संचय', डॉ० शैलेन्द्र कुमार शर्मा,
श्री आनन्द प्रकाश जैन, श्री महाबीर प्रसाद जैन,
सि० मोती लाल जैन 'विजय', डॉ० राम सजीवन शुक्ल,
डॉ० विनोद कुमार तिवारी, डॉ० परमानन्द जड़िया,
डॉ० कैलाश नाथ द्विवेदी, प्रा० सुमेर चंद जैन,
श्री मदन मोहन वर्मा, श्री अनूप चन्द्र जैन, श्रीमती राजदुलारी जैन,
कु० राखी-कु० रचना-सिंघई मुकुल जैन,
डॉ० (श्रीमती) जैनमती जैन, श्री मनोज कुमार जैन 'निर्लिप्त',
श्री रतनलाल बैनाड़ा, पं० धन्य कुमार जैन,
जस्टिस एम० एल० जैन, डॉ० लाल चन्द्र जैन

२३. लेखक परिचय क० पृ० ३

वार्षिक शुल्क रु० ५०/- (मनी आर्डर द्वारा प्रेष्य)

एक प्रति का मूल्य रु० २०/-

आवश्यक

डाक दरों तथा कागज आदि के मूल्यों में वृद्धि के कारण शोधादर्श का वार्षिक शुल्क ५०/- रु० और एक प्रति का मूल्य २०/- रु० करना पड़ा है। अतः कृपया वर्ष २००० का वार्षिक शुल्क ५०/- रु० (पचास रुपये) मनीआर्डर द्वारा 'महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति उ. प्र., ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' को भेजने का अनुग्रह करें।

—प्रबन्ध सम्पादक

आवश्यक सूचना

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ **शोधपरक एवं अप्रकाशित** लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किये जाने चाहिएं। यथासम्भव लेख ३–४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। **लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।**

शोधादर्श में **समीक्षार्थ** पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की **दो प्रतियां** भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु **शोधादर्श** का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख/रचना और समीक्षार्थ पुस्तक/पत्रिका सम्पादक को 'ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

—प्रबन्ध सम्पादक

निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्‌बोधन प्राप्त होता रहे। **कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना अवश्य देवें** ताकि प्राप्ति के बारे में हम आश्वस्त हो सकें।

— सम्पादक मण्डल

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ-४ (उ० प्र०)

गुरुगुण-कीर्तन

विद्यानन्द

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः ।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति ।।

—वादिराज : **पार्श्वनाथचरित**, १/२८

भावार्थ—यह विस्मय की बात है कि विद्यानन्द के सरल सूत्र से स्फुरित (उत्पन्न) होने वाले रत्न (ज्ञान-रत्न) और अलंकारों को सुनते ही अंगों (शरीर) में दीप्ति (कान्ति) आ जाती है, अर्थात् विद्यानन्द के ज्ञान और अलंकार से युक्त सरल सूत्र श्रोताओं को आनन्द प्रदान करने वाले हैं ।

देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्
तात्पर्यतः क इह बोद्धुमतीवदक्षः ।
विद्वान् न चेत् सद्गुणचंद्रमुनिर्न
विद्यानंदोऽनवद्यचरणः सदनंतवीर्यः ।।

—वादिराज : **न्यायविनिश्चयविवरण**

भावार्थ—देव (अकलंकदेव) का यह शासन (न्याय शास्त्र) अत्यन्त गम्भीर (गहरा अथवा अगाध) है । तात्पर्य यह है कि कौन इस संसार में इसे जानने में अत्यन्त दक्ष है, यदि गुणचन्द्र मुनि, दोष रहित आचरण वाले विद्यानन्द और अनन्तवीर्य न होते तो अकलंकदेव के न्याय सम्बन्धी इन गम्भीर वचनों को कौन समझता और समझाता ।

ऊपर उल्लिखित प्रथम श्लोक में वादिराज ने कार्तिक शुक्ल तृतीया, शक संवत् ९४७ (१०२५ ई०) को, पूर्ण किये गये अपने **पार्श्वनाथचरित** में जिन विद्यानन्द के ज्ञानपूर्ण और अलंकारयुक्त सरल सूत्रों की सराहना की है और द्वितीय श्लोक में अकलंकदेव (लगभग ६२५-६७५ ई०) के ग्रन्थ **न्यायविनिश्चय** पर अपने बीस हजार श्लोक प्रमाण भाष्य **न्यायविनिश्चयविवरण** अपरनाम **न्यायविनिश्चयालंकार** में जिन विद्यानन्द का सादर स्मरण, निर्दोष

चरित्र वाले और न्याय विषय के ज्ञाता के रूप में, किया है, उन्हें ९ कृतियों की रचना करने का श्रेय है, यथा—**विद्यानन्दमहोदय, श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्र, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्त-परीक्षा स्वोपज्ञवृत्तिसहित, प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, युक्त्यनुशासनालंकार** और **सत्यशासन-परीक्षा**।

प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, और **आप्त-परीक्षा** में रचनाकार ने अपना नाम 'विद्यानन्द' तथा **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** में 'विद्यानन्दी' सूचित किया है।

विद्यानन्दमहोदय उनकी सर्वप्रथम रचना बताई जाती है परन्तु यह अनुपलब्ध है।

तीस पद्यों में श्रीपुर (अर्थात् अन्तरीक्ष) के पार्श्वनाथ की स्तुति में रचित **श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्र** कदाचित् उनकी दूसरी रचना है। रूपक अलंकार के माध्यम से आराध्य की भक्ति में रचित इस कृति में दर्शन और काव्य का गंगा-यमुनी संगम है। डॉ० ज्योति प्रसाद जैन के अनुसार इस स्तोत्र की रचना कर्णाटक में तलकाड के पश्चिम-गंग-वंशीय नरेश श्रीपुरुष के राज्यकाल (७२६-७७७ ई०) में उस अवसर पर हुई प्रतीत होती है जबकि उक्त नरेश ने ७७६ ई० में श्रीपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर तथा नन्दी संघ के कुमारनन्दि और विमलचन्द्र नामक गुरुओं को दान दिया था। कदाचित् स्तोत्र का नामकरण करने में रचयिता ने 'श्रीपुर-पार्श्वनाथ' शब्दों के अन्तर्गत 'अन्तरिक्ष के पार्श्वनाथ' ही नहीं अपितु 'श्रीपुर नगर के पार्श्वनाथ मन्दिर' और तत्कालीन शासक 'श्रीपुरुष के आराध्य पार्श्वनाथ' अर्थों को भी समाहित कर लिया है।

गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामि के सुप्रसिद्ध **तत्त्वार्थसूत्र** पर, कुमारिल भट्ट के **मीमांसाश्लोकवार्तिक** और धर्मकीर्ति के **प्रमाणवार्तिक** की भांति, पद्यात्मक शैली में निबद्ध टीका ग्रन्थ **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** विद्यानन्द का जैन दर्शन पर अन्यतम ग्रन्थ है। पद्यवार्तिकों [सूत्रों] पर रचनाकार ने यथावश्यक गद्य में स्वयं भाष्य भी लिखा है और कुमारिल एवं धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध बौद्ध तार्किकों के जैन दर्शन के

सम्बन्ध में किये गये आक्षेपों का समुचित उत्तर भी दिया है। इस ग्रन्थ में राजा शिवमार का उल्लेख है जो पश्चिमी-गंगवंशीय शिवमार द्वितीय [७७७-७८४ ई०] से अभिन्न है, अतः इसका रचनाकाल ७७६-७८४ ई० के मध्य अनुमानित है।

स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त का ज्ञान कराने वाली, स्वामि समन्तभद्र (२री शती ई०) की **आप्तमीमांसा** अपरनाम **देवागमस्तोत्र** पर विस्तृत भाष्य स्वरूप और अकलंकदेव की **अष्टशती** को समाहित करने वाली इनकी चौथी कृति **अष्टसहस्री** है। यह न्याय जैसे दुरुह विषय पर प्राञ्जल भाषा में रचित जटिल ग्रन्थ है। इस में जैन दर्शन की मान्यताओं का वर्णन करने के साथ-साथ न्याय-वैशेषिक, सांख्य, वेदांत, बौद्ध, मीमांसक आदि इतर दर्शनों का भी विवेचन किया गया है। इसमें महाराज सत्यवाक्य और ध्रुव धारावर्ष के उल्लेख के साथ स्वामी वीरसेन के सद्यः निधन का उल्लेख हुआ बताया जाता है। **धवला** और **जयधवला** टीकाओं के रचनाकार स्वामी वीरसेन ७९० ई० के आसपास तक जीवित रहे माने जाते हैं। पश्चिमी-गंगवंशीय नरेश शिवमार द्वितीय का पुत्र मारसिंह (७८५-८०० ई०) जिसका विरुद भी कदाचित् सत्यवाक्य रहा, उस समय तलकाड में राज्य कर रहा था और ध्रुव धारावर्ष मान्यखेट में राष्ट्रकूट नरेश था। इस आधार पर डॉ० ज्योति प्रसाद जैन ने **अष्टसहस्री** का रचनाकाल ७९१-९२ ई० अनुमानित किया हैं।

परमेष्ठीगुणस्तोत्र, परमेष्ठीगुणस्तोत्र का प्रयोजन, ईश्वर परीक्षा, कपिल परीक्षा, सुगत परीक्षा, परमपुरुष परीक्षा या ब्रह्माद्वैत परीक्षा और अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि, नामक सात प्रकरणों में विभक्त और १२४ कारिकाओं में स्वोपज्ञवृत्ति सहित निबद्ध **आप्त-परीक्षा** इनका एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

प्रमाण-परीक्षा में प्रमाण के स्वरूप, उत्पत्ति, संख्या, विषय एवं उसके फल आदि पर विचार किया गया है।

पत्र-परीक्षा नामक लघुकाय ग्रंथ में विभिन्न दर्शनों की अपेक्षा से 'पत्र' के लक्षणों को उद्धृत करते हुए जैन दृष्टिकोण से 'पत्र' का लक्षण दिया गया है, तथा वाद-विवाद के लिये प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को ही अनुमान का अंग बताया गया है। इस कृति में अन्य मत-मतान्तरों की समीक्षा भी की गई है।

स्वामी समन्तभद्र की ६४ कारिकात्मक दार्शनिक कृति **युक्त्यनुशासनस्तोत्र** पर विद्यानन्द की टीका **युक्त्यनुशासनालंकार** है जिसमें समन्तभद्र की कारिकाओं में स्थापित प्रमेयों पर विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है।

सत्यशासन-परीक्षा कदाचित् उनकी अंतिम कृति है क्योंकि यह अपूर्ण उपलब्ध है। कृति के आरम्भ में रचनाकार ने पुरुषाद्वैत आदि १२ इतर शासनों की परीक्षा करने का संकल्प व्यक्त किया, किंतु केवल ९ की ही मीमांसा हुई है, तथापि इसका महत्त्व विशिष्ट है जैसी कि डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने **अनेकान्त** (वर्ष ६, किरण ११) में विवेचना की है—"विद्यानन्द के अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा में गूँथे गये युक्तिजाल से तर्क ग्रंथों के अभ्यासी परिचित होंगे। उनके **प्रमाण-परीक्षा**, **पत्र-परीक्षा** और **आप्त-परीक्षा** प्रकरण अपने-अपने विषय के बेजोड़ निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्द के अन्य ग्रंथ आगे बने हुये समस्त दिगम्बर, श्वेताम्बर न्यायग्रंथों के आधारभूत हैं। यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यानन्द के ग्रंथों को अलग कर दिया जाय, तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायेगा। उनकी यह **सत्यशासन-परीक्षा** ऐसा एक तेजोमय रत्न है, जिससे जैन न्याय का आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आये हुए पदार्थ फुटकर रूप से उनके **अष्टसहस्री** आदि ग्रंथों में खोजे जा सकते हैं, पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयों का सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्द ने ही किया है, अन्यत्र मिलना असम्भव है।"

(शेष पृष्ठ १६२ पर)

महाकवि स्वयंभू

—डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

अपभ्रंश भाषा के सुप्रसिद्ध महाकवि स्वयंभू के विषय में गत साधिक साठ वर्षों में पर्याप्त लिखा गया है। उक्त ऊहापोह एवं शोध-खोज से तद्विषयक अध्ययन की प्रगति का परिचय प्राप्त होता है, और प्रतीत होता है कि अभी भी स्वयंभू विषयक अध्ययन अपूर्ण ही है।

कविवर का सर्वप्रसिद्ध महाकाव्य **पउमचरिउ अपरनाम रामायण** है, जिसके बल पर उनकी गणना मात्र अपभ्रंश भाषा के ही नहीं, वरन् समस्त भारतीय साहित्य के सर्वोपरि महाकवियों में की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास से सैकड़ों वर्ष पहले से, तथा स्वयं उनके समय में भी, उत्तर भारत में **स्वयंभू-रामायण** का प्रभूत प्रचार था। इस ग्रन्थ की अनेक प्रतियां १५वीं-१६वीं शती ई० की ग्वालियर आदि के शास्त्र भण्डारों में प्राप्त हुई हैं। कवि का दूसरा महाकाव्य **रिट्ठणेमिचरिउ** अपरनाम **हरिवंशपुराण** है। तीसरी कृति उनकी पद्धड़ियाबद्ध **पंचमीचरिउ (नागकुमार चरित)** है जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। **स्वयंभू-छन्द** नाम से उन्होंने अपभ्रंश भाषा का एक छन्द शास्त्र भी रचा था, और एक अपभ्रंश व्याकरण **(स्वयंभू-व्याकरण)** भी रचा बताया जाता है। कई अन्य छोटी-छोटी रचनाओं के उल्लेख भी मिलते हैं, यथा **सुद्धयचरिउ** या **सुव्वयचरिउ**, एक स्तोत्र आदि।

आधुनिक युग में, १९२० ई० के लगभग, डॉ० पी० डी० गुणे ने कवि स्वयंभू की खोज सर्वप्रथम की थी। उनके उक्त लघु परिचय के आधार से मुनि जिनविजय जी ने इन कविवर की ओर विद्वज्जगत का ध्यान आकृष्ट किया, और पंडित नाथूराम प्रेमी ने भी जुलाई १९२३ के **जैन साहित्य समालोचक** में प्रकाशित अपने लेख 'महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण' में स्वयंभू के **पउमचरिउ** की चर्चा की।

तदनन्तर, प्रो० हीरा लाल जैन ने नागपुर यूनीवर्सिटी जर्नल (भा० १०, सन् १९३५) में प्रकाशित अपने लेख 'स्वयंभू एण्ड हिज टू पोइम्स इन अपभ्रंश' में कविवर और उनके दोनों महाकाव्यों का परिचय दिया। तथा, डॉ० एच० डी० वेलङ्कर ने कवि के छन्द ग्रंथ का अन्वेषण करके उसका उपलब्ध भाग रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के जर्नल (नई सीरीज़), भा० २, सन् १९३५-३६, में प्रकाशित कराया। प्रो० मधुसूदन मोदी का गुजराती लेख 'अपभ्रंश कविओ: चतुर्मुख स्वयंभू अने त्रिभुवन स्वयंभू' १९४० में **भारतीय विद्या** नामक पत्रिका के अंक २-३ में प्रकाशित हुआ—उन्होंने चतुर्मुख और स्वयंभू को अभिन्न समझने की भूल की। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने **भारतीय विद्या** (ब० ८, अं० १) में प्रकाशित अपने लेख तथा १९४२ में प्रकाशित अपनी पुस्तक **जैन साहित्य और इतिहास** के प्रथम संस्करण में 'महाकवि स्वयंभू और त्रिभुवन स्वयंभू' शीर्षक निबन्ध (पृ० ३७०-३९५) में मोदी जी की उक्त भूल का निरसन किया तथा पिता-पुत्र कविद्वय के सम्बन्ध में विस्तृत ऊहा-पोह की और दोनों महाकाव्यों के आद्य एवं अन्त्य पाठ भी उद्धृत किये। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने १९४५ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ **हिन्दी काव्यधारा** में **स्वयंभू-रामायण** के कई काव्यात्मक अवतरण उद्धृत करते हुए प्रथम श्रेणी के महाकवि के रूप में उनका समुचित मूल्यांकन किया और यह भी इंगित किया कि गोस्वामी तुलसीदास के **रामचरितमानस** पर **स्वयंभू-रामायण** का प्रभूत एवं प्रत्यक्ष प्रभाव रहा। पं० परशुराम चतुर्वेदी और डॉ० त्रिलोक नारायण ने भी अपने लेखों आदि में स्वयंभू तथा उनके महाकाव्य की चर्चा की किन्तु राहुल जी तथा उक्त दोनों विद्वानों की कई भ्रान्त धारणाएं भी रहीं।

१९५२-६२ में डॉ० एच० सी० भायाणी ने तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार से स्वयंभू के **पउमचरिउ** के मूल पाठ का अत्युत्तम सम्पादन करके उसे तीन भागों में **सिंघी जैन सीरीज़** (नं० ३४-३६) के अन्तर्गत प्रकाशित कराया। भा० १ व ३ की

विद्वत्तापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाओं में उन्होंने उक्त महाकाव्य का सर्वांग समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया—उसके स्रोतों, भाषा, शैली, व्याकरण, छन्द प्रयोग, विषयवस्तु आदि पर प्रकाश डाला और स्वयं महाकवि के व्यक्तित्व, कृतित्व, उपलब्धियों, तिथि, युग आदि का भी विवेचन किया। स्वयं हमने १९५५-५६ में अपने शोध-प्रबन्ध The Jaina Sources of the History of Ancient India (प्रकाशित १९६४) में भी महाकवि स्वयंभू का परिचय दिया। १९५६ में ही पं० नाथूराम प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास के द्वितीय संस्करण में (पृ० १९५-२१९ पर) 'स्वयंभू और त्रिभुवन-स्वयंभू' लेख में उनके पूर्वोक्त लेख का संशोधित रूप प्रकट हुआ। और उसी वर्ष प्रकाशित अपने शोध-प्रबन्ध अपभ्रंश साहित्य (पृ० ५१ आदि) में डॉ० एच० कोछड़ ने स्वयंभू तथा उनके काव्यों की संक्षिप्त विवेचना की।

१९५७ में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा स्वयंभू के पउमचरिउ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। उसमें डॉ० भायाणी द्वारा सुसम्पादित मूलपाठ अपनाया गया और प्रो० देवेन्द्र कुमार जैन साहित्याचार्य द्वारा उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इस भाग के प्रारम्भ में प्रधान सम्पादक के रूप में डॉ० हीरालाल जैन एवं डॉ० ए० एन० उपाध्ये के संक्षिप्त 'प्राथमिक वक्तव्य' के अनन्तर विद्वान हिन्दी अनुवादक ने 'दो शब्द' तथा 'महाकवि स्वयंभू' शीर्षकों से महाकवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला। वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, से १९६३ में प्रकाशित जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भा० २, की भूमिका में पं० परमानन्द शास्त्री ने भी कवि और उसकी कृतियों का परिचय तथा अपनी तद्विषयक धारणाएं दी हैं—पउमचरिउ की जिस प्रति का उन्होंने उपयोग किया वह वैसाख शु० १५, सोमवार, वि० सं० १५१४ (अर्थात् १४५७ ई०) की थी। इस बीच भारतीय ज्ञानपीठ से डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन द्वारा अनूदित भाग क्रमशः निकलते रहे—पांचवां (अन्तिम) भाग १९७० में प्रकाशित हुआ, जिसके प्रारम्भ में ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पापक-द्वय, डॉ०

हीरा लाल जैन एवं डॉ० ए० एन० उपाध्ये, के अंग्रेजी एवं हिन्दी प्रधान सम्पादकीय में पुनः इस महाकाव्य तथा उसके रचयिता के विषय में विचार किया गया है।

उपरोक्त विवेचनों के अतिरिक्त, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, से प्रकाशित **जैन साहित्य का वृहद इतिहास** (खण्ड ६), डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री कृत **अपभ्रंश भाषा और साहित्य**, डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य कृत **भगवान महावीर की आचार्य परम्परा** (भा० ४), पं० परमानन्द शास्त्री एवं पं० बलभद्र जैन कृत **जैन धर्म का प्राचीन इतिहास** (भा० २), तथा अन्य विद्वानों के फुटकर लेखों आदि में भी महाकवि स्वयंभू की चर्चा या उल्लेख हुए हैं।

महाकवि की अधुनाज्ञात सात कृतियों में से केवल तीन—**पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ**, और **स्वयंभू-छन्द** ही उपलब्ध हैं। इनमें से भी अभी तक डॉ० वेलङ्कर द्वारा **स्वयंभू-छन्द** का और डॉ० भायाणी द्वारा **पउमचरिउ (रामायण)** का ही भाषा-शास्त्रीय एवं काव्य-शास्त्रीय समीक्षात्मक अध्ययन हुआ है—उनसे आगे बढ़कर और विशेष अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। **पउमचरिउ** की भांति **रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण)** का भी विशेष अध्ययन युक्त सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित होना शेष है। **पंचमी चरिउ (नाग-कुमार चरित), सुव्वयचरिउ (?), स्वयंभू-व्याकरण** आदि अन्य ज्ञात रचनाओं की शास्त्र भण्डारों में खोज की जाने तथा उद्धार किये जाने का कार्य शेष है। खोज करने से सम्भव है कि उनकी कोई अन्य रचना या रचनाएं भी प्राप्त हो जाएं। स्वयंभू की प्रतिभा के जिन आयामों—काव्यकौशल, भाषानैपुण्य, वैदुष्य, धर्मज्ञता, शास्त्र-ज्ञता, छन्दशास्त्रज्ञता; व्याकरण-पांडित्य आदि का इंगित मिलता है, उन सबकी सम्यक् गवेषणा करके कवि के व्यक्तित्व को उजागर करना; भारतीय साहित्य में उनके योगदान का मूल्यांकन करना और भारतीय ही नहीं वरन् विश्व के सार्वकालीन महाकवियों में उनका स्थान निर्धारण करना, ऐसी दिशाएं हैं जिनमें अभी बहुत कुछ

किया जा सकता है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का तलस्पर्शी सर्वांग सांस्कृतिक अध्ययन अपेक्षित है। उनकी कृतियों के स्रोतों तथा पूर्वापर प्रभावों पर भी प्रकाश पड़ना है।

अन्य अनेक पुरातन आचार्यों, मनीषियों, महाकवियों आदि की भांति महाकवि स्वयंभू के विषय में भी जो कुछ वैयक्तिक तथ्य उपलब्ध हैं, वे अत्यल्प हैं। परन्तु जैसा कि आंग्ल महाकवि शेक्सपियर के एक प्रौढ़ अध्येता अल्फ्रेड आस्टिन का कहना है कि 'बहुधा यह कहा जाता है कि व्यक्ति विशेष के रूप में हम शेक्सपियर के विषय में कुछ भी नहीं जानते, किन्तु मुझे तो यह प्रतीत होता है कि जितना अधिक हम उस व्यक्ति के विषय में जानते हैं, किसी अन्य व्यक्ति के विषय में नहीं जानते ?', यही बात महाकवि स्वयंभू पर लागू होती है, किन्तु उसके साहित्य का उतना विविध एवं बिस्तृत अध्ययन तो हो ले जितना कि गत लगभग ४०० वर्ष में शेक्सपियर का हो चुका है। ऐसा हो जाने पर स्वयंभू के भी व्यक्तित्व, स्वभाव, चरित्र एवं गुण-दोषों को बहुत कुछ उजागर किया जा सकेगा।

कवि की प्राप्त कृतियों में उनका नाम स्वयंभूदेव प्राप्त होता है। वह उनका मूल नाम था या साहित्यिक, कहा नहीं जा सकता। कविराय, कविराज चक्रवर्ती,, कविराजधवल, छन्द चूड़ामणि, जय-परिशेष, तथा विजयशेषित उनके विरुद या उपाधियां रही प्रतीत होती हैं। स्वयं उनके कथनानुसार वह शरीर के दुबले-पतले, ऊंचे कद के थे, उनकी नाक चपटी थी और दांत विरल थे। ऐसा लगता है कि उक्त काव्यों की रचना के समय वह प्रौढ़, अनुभववृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध थे। उनकी जाति, कुल, वंश, गोत्र आदि का कुछ पता नहीं है। पुष्पदन्तीय महापुराण के 'स्वयंभू' शब्द के टिप्पण में उन्हें 'आपुलीसंघीय' कहा गया है, जिससे अनुमान लगाया गया है कि उनका सम्बन्ध यापनीय संघ से था। यह संघ दिगम्बर परम्परा की ही एक शाखा थी और अन्ततः उसी में अन्तर्भूत हो गया।

कवि के पिता का नाम मारुतदेव था, जो शायद स्वयं भी अपभ्रंश भाषा के एक सुकवि थे। कवि की जननी का नाम पद्मिनी

था। कवि की तीन पत्नियां थीं—आइच्चम्बा, (आदित्याम्बा), सामिअम्बा या अमिअम्बा (अमृताम्बा) और सुअम्बा (श्रुताम्बा)—ये तीनों ही विदुषी थीं और कवि के लेखन कार्य में योग देती थीं। स्वयंभू की महासत्त्वधारिणी धर्मपत्नी सामिअम्बा तो ध्रुवराज की पुत्रियों की शिक्षिका भी थीं। कवि की सम्भवतया एकाधिक सन्तानें थीं, किन्तु उनके केवल एक पुत्र, त्रिभुवन-स्वयंभू, के विषय में ही कुछ जानकारी है। उसने पिता की कृतियों के कच्चे आलेखों को सुसम्पादित करके तथा उनमें पूरक अंश, अन्त्य प्रशस्तियां आदि जोड़ कर उनका संरक्षण एवं प्रकाशन किया। उसने अपने बन्दइय गोविन्द, श्रीपाल, मदन आदि कई प्रश्रयदाताओं एवं प्रेरकों के नाम भी दिये हैं। स्वयं कवि स्वयंभू ने अपने आश्रयदाताओं के रूप में रयडा-धनञ्जय और धवलइय या ध्रुवराज धवलइय के नाम दिये हैं।

कवि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों एवं साहित्यकारों का नामोल्लेख किया है। **पउमचरिउ** की सूची में अन्तिम नाम अनुत्तरवादी कीर्त्तिधर और रविषेण के हैं—इन दोनों के **पद्मपुराणों** को ही स्वयंभू ने अपनी **रामायण** का मूलाधार बनाया प्रतीत होता है। संस्कृत **पद्मपुराण** के कर्त्ता रविषेण (६७६ ई०) ने भी अनुत्तरवादी कीर्त्तिधर के पुराण को अपना आधार सूचित किया है। **रिट्ठणेमिचरिउ** में स्वयंभू ने महाकवि चतुर्मुख और उनके पद्धड़िया-बद्ध **हरिवंशपुराण** को अपना पूर्ववर्ती सूचित किया है। स्वयं स्वयंभू का सर्वप्रथम स्पष्ट नामोल्लेख पुष्पदन्त के अपभ्रंश **महापुराण** (९५९ ई०) में प्राप्त होता है।

इस प्रकार कवि के समय की पूर्वावधि ६७६ ई० और उत्तरावधि ९५९ ई० स्थिर होती हैं। इसी आधार पर स्व० प्रेमी जी ने स्वयंभू का समय ६७६ ई० और ७८३ ई० के बीच अनुमान किया था, और डॉ० देवेन्द्र कुमार ने भी इसे ही मान्य किया। किन्तु यह हेतु कि स्वयंभू ने जिनसेन पुन्नाट के **हरिवंशपुराण** (७८३ ई०) का कोई उल्लेख नहीं किया और न जिनसेन-गुणभद्र के **महापुराण** (लगभग ८५० ई०) का ही, अतः वह ७८३ ई० के पूर्व ही हुए

होने चाहिये, कुछ लचर प्रतीत होता है। इन तीनों आचार्यों ने भी तो स्वयंभू या उसके ग्रन्थों का कोई उल्लेख नहीं किया है। **हमें तो ऐसा लगता है कि स्वयंभू और हरिवंशपुराणकार जिनसेन प्रायः समसामयिक थे।** स्वयंभू द्वारा उल्लिखित उसका आश्रयदाता ध्रुवराय-धवलइय राष्ट्रकूट नरेश ध्रुवराज-धारावर्ष-निरुपम (७७९-७९३ ई०) से अभिन्न प्रतीत होता है। धवल या धवलइय उसका भी एक विरुद रहा प्रतीत होता है। ध्रुव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय जगत्तुंग-त्रिभुवन धवल (७९३-८१४ ई०) त्रिभुवन स्वयंभू का वम्दइय-गोविन्द नामक आश्रयदाता रहा हो सकता है। अतएव **स्वयंभू का साहित्य सृजन काल लगभग ७७० ई० से ७९५ ई० रहा प्रतीत होता है।** ऐसा लगता है कि अपने उत्तर भारतीय अभियान में राष्ट्रकूट ध्रुवराज कन्नौज से राज्यश्रेष्ठि रयडा धनञ्जय और उसके आश्रित कवि स्वयंभू को सपरिवार अपनी राजधानी एलउर में लिवा लाया था—**पउमचरिउ** का प्रारम्भ कन्नौज में हुआ, समाप्ति एलउर में हुई। शेष ग्रन्थ भी राष्ट्रकूटों के प्रश्रय में ही रचे गये।

कवि के मूल निवास के विषय में भी मतभेद है—कुछ उसे कन्नौज और कुछ वाराणसी, साकेत, विदर्भ, महाराष्ट्र या कर्णाटक अनुमान करते हैं। राष्ट्रकूटों की मान्यखेट से पूर्व राजधानी एलउर (एलोरा) महाराष्ट्र एवं विदर्भ के सन्धिस्थल के निकट ही है। स्वयंभू के जीवन के अन्तिम वर्षों का भी कोई ज्ञान नहीं है—ऐसा लगता है कि वह एकाएक गृहस्थाश्रम से उदासीन होकर, संभवतया वाटग्राम के स्वामि वीरसेन के संस्थान में रहकर आत्मकल्याणरत हो गये थे। एक अनुमान यह भी है कि स्वामि जिनसेन के **जयधवलटीका** विषयक 'श्रीपाल संपालित' से अभिप्राय स्वयंभू से ही हो जिन्होंने गृहत्याग करके श्रीपाल नाम धारण कर लिया था। उनके अधूरे अपभ्रंश महाकाव्यों का संरक्षण, सम्पादन एवं पूर्ति उनके सुयोग्य कविपुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने की।

अस्तु, कविराज स्वयंभूदेव विषयक अभी भी अनेक तथ्य अन्वेषणीय एवं गवेषणीय हैं। अनेक सूत्र अभी भी ढीले, विवादास्पद, अनिश्चित या अस्पष्ट हैं। सम्यक् विशेषाध्ययन से ही वे सुलझेंगे और सुस्पष्ट होंगे। ★

सम्पादकीय

समन्वय समिति के महत्वपूर्ण निर्णय

दिगम्बर जैन समाज की सभी राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रमुखों द्वारा गठित समन्वय समिति (Co-ordination Committee) की साहु रमेश चन्द्र जी की अध्यक्षता में दि० ४ फरवरी, २००० ई०, को सम्पन्न हुई चौथी बैठक में कई महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये।

श्रमण शिथिलाचार

बैठक में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे मुनियों के शिथिलाचार सम्बन्धी समाचारों पर चिन्ता व्यक्त करते हुए एक प्रस्ताव द्वारा सभी मुनियों/आर्यिकाओं से विनयपूर्वक निवेदन किया गया कि वे किसी पीठ, मठ, स्थान, संस्था या किसी क्षेत्र विशेष का भट्टारक पद न स्वीकार करें और न ही किसी भी तीर्थ, मन्दिर या सामाजिक संस्था का आधिपत्य स्वीकार करें। बैठक में श्रावक एवं विद्वत् वर्ग की एक पांच-सदस्यी संयुक्त कमेटी का भी गठन किया गया जो साधुओं के आचरण को लेकर समाज में यदा-कदा उत्पन्न होने वाले विवाद के सम्बन्ध में घटना स्थल पर जाकर वस्तु स्थिति मालूम कर समाज को सही जानकारी देगी।

बोर तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समन्वय समिति के निर्णय को पढ़ कर यह सन्तोष हुआ कि अन्ततः हमारे समाज प्रमुखों को श्रमण संस्था में दिनोंदिन बढ़ते शिथिलाचार पर चिन्ता हुई तो, और उन्होंने उसकी रोक-थाम के लिए एक साथ बैठ कर विचार किया तो सही। अब देखना यह है कि उनके द्वारा लिये गए उपयुक्त निर्णयों की इस दिशा में कितने कारगर सिद्ध होने की सम्भावना है।

समन्वय समिति के प्रस्तावों में इसका कोई संकेत नहीं दिया गया है कि यदि हमारे कोई महामुनि या विदूषी आर्यिका जी समाज प्रमुखों के 'सविनय निवेदन' को नकार कर अपनी पूर्व निश्चित योजनानुसार किसी प्राचीन या नव स्थापित पीठ, मठ, आदि का

भट्टारक या पीठाधीश पद स्वीकार करने के अपने दृढ़ संकल्प पर डटे रहे तो ऐसी स्थिति में हमारे समाज-प्रमुख क्या कार्यवाही करेंगे। ऐसे मामलों में अब तक तो कभी कोई कार्यवाही की नहीं गई और आगे भी की जा सकेगी, इसमें हमें तो भारी सन्देह है। ताजा-तरीन दृष्टांत दिगम्बर मुनि से नग्न भट्टारक बने बालाचार्य श्री योगीन्द्र सागर जी का समाज के सामने हैं जिन्हें समाज के सुप्रतिष्ठित विद्वान डा० रमेशचन्द्र जी की अपनी तथा अपनी अध्यक्षता वाली अखिल भारतीय विद्वत् परिषद से जुड़े सभी विद्वानों की ओर से किये गये सविनय निवेदन तथा विरोध एवं बहिष्कार की धमकी भी बालाचार्य श्री को भट्टारक पदाभिषिक्त होने के दृढ़ संकल्प से विचलित नहीं कर सकी। कुछ विद्वत् जनों एवं श्रेष्ठियों ने तो बालाचार्य जी के समर्थन में वक्तव्य भी प्रकाशित करा दिये कि उन्होंने केवल भट्टारक की उपाधि ही स्वीकार की है, भट्टारक का पद नहीं, और भट्टारक तो भगवान महावीर भी कहलाते थे। हमारी अल्प बुद्धि में 'उपाधि' और 'पद' का सूक्ष्म अन्तर समझ में नहीं आता। बालाचार्य जी भगवान महावीर के समकक्ष नहीं है जो उन्होंने यह उपाधि धारण की है। न ही हम उन्हें या अन्य किसी भी महामुनि को इस योग्य समझते हैं कि वे तीर्थंकर के सभी विरुद धारण कर सकें। दक्षिण भारत की पीठों पर आसीन वर्तमान के भट्टारकों के हाथों भट्टारक उपाधि का इतना अवमूल्यन हो गया है कि किसी अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों के धारी साधु का अपने को भट्टारक कहलाना स्वयं के दक्षिण के पीठाधीश-भट्टारकों की पंक्ति में बैठ जाने की घोषणा करना ही है। भट्टारक हो जाने के बाद वे अब जगद्गुरू जैसे तीर्थंकर भगवन्तों के अन्य विरुद भी बिना किसी रोक-टोक के धारण कर अपने को महिमा मंडित कर सकेंगे। समन्वय समिति ने इसीलिए हमारे महामुनियों से इस उपाधि या पद को स्वीकार न करने की अपील की है। किन्तु जब तक यह स्पष्ट नहीं किया जाता कि भट्टारक बन जाने के बाद, भले ही वे दिगम्बर मुनि वेश धारण किए रहें, समाज उनके साथ क्या व्यवहार करेगी, इस प्रस्ताव से कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है।

समन्वय समिति ने जो जांच कमेटी गठित की है, उसके विषय में भी आशंका तो यही होती है कि इसका प्रच्छन्न उद्देश्य भी कदाचित् यही है कि विवाद के घेरे में आए मुनि/आर्यिका की जांच की औपचारिकता कर उन्हें निर्दोष घोषित कर दिया जाय। इस प्रकार आलोचकों की जबान भी बन्द हो जाएगी और समाज भी बदनामी से बच जाएगी, तथा उपगूहन अंग का पालन भी हो जाएगा। सामान्यतया समाचार पत्रों की सुर्खियों में ऐसे ही साधु विवाद के घेरे में फसे नजर आते हैं जिन पर शील-स्खलन के आरोप लगते हैं। अपरिग्रह महाव्रत का उदारीकरण तो आज अधिकांश साधुओं ने न्यूनाधिक रूप में अपनाया हुआ है। समाज भी उसकी अभ्यस्त हो गई है। अतः उसके कारण तो कोई विवाद सामान्यतया खड़ा होता नहीं। वस्तुतः अपरिग्रह महाव्रत के उदारीकरण की प्रवृत्ति का प्रारम्भ तो चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर म० के संघ में ही हो गया था जिसके कारण आर्ष मार्ग के कट्टर पक्षपाती कुछ विद्वज्जनों ने उन तक को 'नग्न भट्टारक' कह डाला था तथा मुनीन्द्र सागर, ज्ञान सागर जैसे शिथिलाचारियों की खूब आलोचना की गई थी (देखें जैन जगत के सन् १९३२ के अंक)। पर अब तो यह प्रवृत्ति साधुत्व की सभी सीमाओं को लांघने लगी है।

इस प्रस्ताव में जांच कमेटी का उद्देश्य विवादित साधु के विषय में सही जानकारी प्राप्त कर उसे समाज के समक्ष प्रस्तुत करना मात्र है। समन्वय समिति ने इसके कोई संकेत नहीं दिये हैं कि यदि जांच कमेटी के निष्कर्ष विवादित मुनि श्री के प्रतिकूल हुए तो क्या कोई कार्यवाही की जाएगी। वैसे, जांच निष्कर्षों के प्रतिकूल जाने की संभावनाएं अत्यल्प ही हैं। फिर भी, वैसी परिस्थिति होने पर भी इसकी क्या गारंटी ली जा सकती है कि कोई समाज-प्रमुख ही या अन्य कोई बड़ा नेता उपगूहन की उदात्त भावना से प्रेरित होकर जांच कमेटी की कार्यवाही को दोष पूर्ण करार देकर पुनः जांच करने का उत्तरदायित्व अपने ही सिर पर नहीं ओढ़ लेगा तथा जांच का दिखावा करके मुनि जी को निर्दोष घोषित नहीं

करेगा, और इस प्रकार विवादित मुनि जी के पक्ष में कम-से-कम संशयात्मक स्थिति तो उत्पन्न कर ही देगा। क्या कुछ ऐसा ही नहीं हुआ था कुछ वर्ष पूर्व जब एक आर्यिका जी ने अपने दीक्षागुरू आचार्य श्री पर शील-स्खलन का आरोप सार्वजनिक रूप से लगाया था? तीनों समाज प्रमुखों की सहमति से एक माननीय न्यायमूर्ति जी की अध्यक्षता में गठित जांच समिति के निष्कर्षों को आचार्य श्री ने तो स्वीकार करने से इन्कार किया हो, साथ ही उन्हीं में से एक समाज-प्रमुख ने भी जांच को दोषपूर्ण करार दे कर स्वयं पुनः जांच की और आचार्य श्री को निर्दोष तो घोषित किया ही, साथ ही उनके महान् उपकारों के लिए समाज की ओर से कृतज्ञता प्रकाश भी की।

धर्म मंगल के दि० २ अप्रैल, २००० ई०, के अंक में जागरूक विदूषी सम्पादिका जी ने पू० आर्यिका स्व० सर्वज्ञ श्री के कतिपय आचार्यों एवं आर्यिकाओं से हुए पत्राचार को प्रकाशित किया है। इन पत्रों में एक सुशिक्षित नवदीक्षित निर्मल चारित्र का पालन कर रही युवा आर्यिका जी की मनोवेदना उजागर हुई है जिन्होंने प्रबल वैराग्य भावना से प्रेरित हो कर आत्म-कल्याणार्थ परम पावन जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की थी किन्तु थोड़े समय के बाद ही गुरू-आचार्य–संघ में अनाचारी प्रवृत्तियों का प्रचलन देख कर स्वेच्छा से संघ का त्याग कर दिया था। स्व० आर्यिका जी ने अपने दीक्षा गुरू तथा संघस्थ आर्यिकाओं के स्थितिकरण का पत्राचार द्वारा भरसक प्रयास किया किन्तु अन्त में निराश होकर श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरि पर कठोर सिंह-निष्क्रीडित व्रत की आराधना करते हुए दि० ६ जनवरी, १९९६, को सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण कर लिया। स्व० आर्यिका जी के पत्राचार में जो शोचनीय स्थिति उजागर हुई है उससे उद्वेलित होकर जागरूक सम्पादिका जी ने गुहार लगाई है कि कोई तो माई का लाल धर्म मंगल का यह अंक सम्बन्धित आचार्य श्री व आर्यिकाओं को दिखा कर उनसे पूछे कि "क्या ये तथ्य सत्य हैं, क्या वे अपने महिमामयी पदों को यूं ही कलंकित करते रहेंगे या दीक्षा छेद का साहस करके समुचित प्रायश्चित लेंगे?" समन्वय

समिति को इस स्थिति पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

जीर्णोद्धार में पुरातत्त्व की रक्षा

समन्वय समिति ने एक अन्य प्रस्ताव द्वारा समाज और साधु वर्ग से अपील की है कि तीर्थ क्षेत्रों के जीर्णोद्धार में प्राचीनता व पुरातत्त्व को नष्ट न करें। यह प्रस्ताव बहुत सामयिक है। विगत कुछ वर्षों में कतिपय तीर्थ क्षेत्रों पर हुए जीर्णोद्धार कार्यों में भव्यता प्रदान करने के उत्साह में प्राचीनता को ही नष्ट कर दिया गया। विडम्बना यह है कि इस प्रकार के कार्य प्रायः किसी-न-किसी महामुनि/आर्यिका जी के मार्गदर्शन में या आशीर्वाद से सम्पन्न किए गए जिनका विरोध करने का समाज में किसी को साहस नहीं होता। ताजा-तरीन उदाहरण श्रीक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह) का है जहां बड़े बाबा के प्राचीन मन्दिर को ध्वस्त करके भव्य निर्माण के उपक्रम में अन्ततः पुरातत्त्व विभाग को हस्तक्षेप करना पड़ा। अतः केवल प्रस्ताव पास करना ही पर्याप्त नहीं है। समिति को जिस किसी भी क्षेत्र पर इस प्रकार के उपक्रम की जानकारी मिले वहां जीर्णोद्धार कर्ताओं को समुचित मार्ग निर्देश देने के लिये ठोस कदम उठाने चाहिए।

२६००वीं वीर जयन्ती

समन्वय समिति की इस बैठक में एक और प्रस्ताव पारित करके समाज से अपील की गयी है कि आगामी वर्ष में भगवान महावीर की जन्म-जयन्ति विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से पूरे देश में मिल-जुल कर उत्साह से मनाई जाय। यह हर्ष का विषय है कि केन्द्र सरकार ने भगवान महावीर स्वामी के २६००वें जन्मोत्सव को पूरे देश में गरिमापूर्वक राष्ट्रीय स्तर पर मनाए जाने के लिए प्रधान मंत्री जी की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय समिति गठित करने का निर्णय ले लिया है। अहिंसा, जीओ और जीने दो, तथा विश्व बन्धुत्व के मसीहा के २६००वें जन्मोत्सव वर्ष को अहिंसा वर्ष घोषित

(शेष पृष्ठ १२९ पर)

आचार्य श्री विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी का समय-निर्धारण

—डा० एम० डी० वसन्तराज

[डा० एम० डी० वसन्तराज का मूल लेख कन्नड भाषा में है। **सन्मति** (१९८०) और श्री सुभाष शास्त्री के **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार (भाषा टीका समन्वित)** की प्रस्तावना के रूप में डा० वसन्तराज के आलेखों का हिन्दी रूपान्तर श्री सुभाष शास्त्री ने प्रस्तुत किया है।]

साधारणतया मुनिगण किसी एक संघ, गण या गच्छ के अन्तर्गत रह कर अपने संघ या गण सूचक नाम पाते थे। उस आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य विद्यानन्दी 'नन्दी' संघ के होंगे। **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार** के हर अध्याय के अन्त में 'प्रशस्ति' वाक्य के रूप में 'विद्यानन्दी' नाम का उल्लेख किया गया है। लेकिन इसी आचार्य की विरचित **आप्तपरीक्षा** में 'विद्यानन्द' नाम की सूचना मिलती है, और यही नाम ज्यादा प्रचलित भी है। इससे

(पृष्ठ १२८ का शेष)

कराने का भी प्रयास किया जाना चाहिए जिसमें नए कत्लखानों के खुलने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जाय तथा अवैध पशुवध को कठोरतापूर्वक रोका जाय। हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि सम्पूर्ण जैन समाज आपसी आम्नाय-भेद को भुला कर २६००वें जन्मोत्सव वर्ष के सभी कार्यक्रम एकीकृत रूप में एक ही मंच से मनाएं। हमें यह न भूलना चाहिए कि अन्यों की दृष्टि में हम सभी जैन हैं; दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी नहीं। महोत्सव के कार्यक्रमों में प्रदेश सरकारों का भी पूरा सहयोग प्राप्त किए जाने के लिये २५००वें निर्वाण वर्ष की भांति मुख्य मंत्रियों की अध्यक्षता में राज्य स्तरीय समितियां भी शीघ्रातिशीघ्र गठित कराने के भरपूर प्रयास किए जाना चाहिए तथा राज्य सरकारों द्वारा उस समय दिये गए कोई आश्वासन यदि अधूरे या अपूर्ण पड़े हों, तो उन्हें इस अवसर पर पूरे करा लेना चाहिए।

—अजित प्रसाद जैन

अनुमान लगा सकते हैं कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार ग्रन्थकर्ता के दोनों नाम, विद्यानन्द और विद्यानन्दी, प्रचार में थे।

प्रायः मुनियों का पूर्वाश्रम अर्थात् माता-पिता, जन्म स्थान, बचपन आदि का पता प्राप्त नहीं है। संसार-विरक्त-जीवन में उनकी वे सब पिछले जीवन की बातें गौण लगती हैं। मुनि-जीवन सम्बन्धी बातों का पता लगाना भी कहीं-कहीं मुश्किल ही नहीं बल्कि असंभव सा हो जाता है क्योंकि वे अपने परिचय से ज्यादा धर्म-परिचय की ओर लगे रहते थे। इसीलिये विशेषतया मुनिविरचित ग्रन्थों के आधार पर ही उन मुनियों के व्यक्तित्व पहचाने जाते हैं। दिगम्बर जैन पन्थ की श्रेष्ठता के प्रति और दिगम्बर मुनियों के आचार व नियम पालन करने के बारे में विद्यानन्द के मन में अपार श्रद्धा तथा निष्ठा का भाव जागृत था। ई० सन ग्यारहवीं शताब्दि में विद्यमान वादिराज सूरि ने न्याय-विनिश्चय-विवरण में विद्यानन्द के बारे में 'अनवद्याचरण' नाम से उनके नियम पालन के प्रति अपना हार्दिक-गौरव व्यक्त किया है। इनकी विद्या-सम्पन्नता के विषय में निस्सन्देह कह सकते हैं कि अकलंकदेव के बाद दिगम्बर जैन आम्नाय में इतिहास प्राप्त इने-गिने तार्किक विद्वानों में विद्यानन्द का स्थान सर्वोपरि है। जैन सिद्धान्त-न्याय-व्याकरणादि में ही नहीं बल्कि जैनेतर बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य-मीमांसक, चार्वाक आदि अन्य दर्शन शास्त्रों में वे गहराई तक पैठे हुए अनमोल सिद्धान्त तथा तार्किक-रत्न भी थे। इनके द्वारा रची ग्रन्थराशि इसकी प्रत्यक्ष साक्षी है।

विद्यानन्दी के जीवन काल के बारे में विश्लेषण या संशोधन करने की ज्यादा आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, फिर भी हमारे मत में यहां पर एक बात का मनन करना, याद रखना, अवश्य उचित होगा। डॉ० श्रीकण्ठ शास्त्री के मतानुसार विद्यानन्द गंगवंश के सायि गोट्ट शिवकुमार के छोटे भाई विजयादित्य के पुत्र राचमल्ल तथा सत्यवाक्य के समकालीन थे। कामता प्रसाद जैन, महेन्द्र कुमार शास्त्री और दरबारी लाल कोठिया आदि पंडित-प्रवरों के कथना-

नुसार आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, युक्त्यनुशासनालंकार में विद्यानन्द ने परोक्ष रूप में विजयादित्य तथा सत्यवाक्य के नामों का उल्लेख किया है। इसके अलावा राचमल्ल व सत्यवाक्य दोनों ही का अमोघवर्ष के सेनानी बंकेश से युद्ध में सामना करने की बात भी उल्लिखित है।

अब यहाँ इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली एक बात को कहना आवश्यक होगा। ज्यादातर कर्नाटक प्रान्त में 'नोम्पी' (व्रताचरण) करने की धार्मिक परिपाटी (प्रथा) बहुत काल पहले से ही चलती आ रही है। इन व्रताचरणों से सम्बन्धित 'नोंपी कथाएं' (व्रत कथाएं) विशेषतया प्रचार में हैं। उन कथाओं में **नागस्त्री नोंपी कथा** भी एक है। इसमें लिखा है कि तेरदाल के राजा बंकभूप ने विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी नामक दो मुनियों को आहार देने के पश्चात् उनसे 'नागस्त्री नोंपी' (व्रत) को ग्रहण किया था। परम्परा से अकृत्रिम रूप में चले आए इस कथन की ऐतिहासिकता के बारे में कोई संदेह नहीं उठता। इस नोंपी कथा के आधार पर लिखा हुआ मेरा एक विश्लेषणात्मक लेख सन्मति पत्र के अप्रैल-मई १९८० के अंक के पृष्ठ ९४-१०० में प्रकट हुआ है। विद्यानन्दी द्वारा परोक्ष रूप में सत्यवाक्य तथा राचमल्ल की सूचना मिलती है, और राचमल्ल द्वारा बंकेश का सामना करने की बात केरेगोडे–रंगपुर के ताम्रपट शासन के कथनों से समन्वय रखती है, अतः इससे नोंपी कथा की ऐतिहासिकता की और भी पुष्टि मिल जाती है। इन सब बातों से एक बात दृढ़ होती है कि विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी मुनि दोनों साधर्मी भ्राता बन कर बंकरस (बंकेश), अमोघवर्ष, राचमल्ल और सत्यवाक्य के समकालीन थे; और इन दोनों **(विद्यानन्दी व माणिक्यनन्दी) का जीवन काल** प्रायः ई० सन् आठवीं और नौवीं शताब्दी का मध्यवर्ती काल रहा होगा, अर्थात् **ई० सन् ७७५ से ८४० के बीच में रहा होगा।**

षट्खंडागम की धवला तथा **कषायपाहुड की जयधवला** व्याख्या के प्रथम भाग के रचयिता सुप्रसिद्ध सिद्धांतकेसरी श्री वीरसेनाचार्य

भी इसी काल में जीवित थे। विद्यानन्दी मुनि के काल के बारे में यह निर्णय यद्यपि सर्वसम्मत माना जाता है, फिर भी विद्यानन्दी के धर्मभ्राता माणिक्यनन्दी के काल के बारे में न्यायाचार्य पं० दरबारी लाल कोठिया ने **आप्तपरीक्षा** की प्रस्तावना (पृष्ठ २७-३३) में यह माना है कि माणिक्यनन्दी **सुदंसण चरिउ** के रचयिता नयनन्दी और **प्रमेयकमलमार्तण्ड** के रचयिता श्री प्रभाचन्द्र के साक्षात् गुरू थे और उनका जीवन काल ई० सन् ९९३ से १०५३ के बीच में होगा। परन्तु उन्हीं के कथनानुसार तथा विभिन्न शिलालेखों के आधार पर **प्रमेयकमलमार्तण्ड** के रचयिता श्री प्रभाचन्द्र पद्मनन्दी सैद्धांती (ऋषभनन्दी) तथा चतुर्मुख देव के शिष्य थे। प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दी के साक्षात् शिष्य थे, इस कथन का कोई समर्थन कहीं नहीं मिलता। **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की प्रशस्ति में 'माणिक्यनन्दी पदपंकजप्रसाद से शास्त्र रचना करता हूं', इस अर्थ की उक्ति जरूर है। मगर इस कथन मात्र से इन दोनों के गुरू-शिष्य का साक्षात् सम्बन्ध साधित नहीं होता। श्री कोठिया जी का अभिमत है कि ई० सन् १०२५ के समय वादिराजसूरि ने **न्यायविनिश्चयविवरण** तथा **प्रमाण-निर्णय** नामक दो न्यायग्रन्थों की रचना की थी और उनमें विद्यानन्दी के वाक्यों का उद्धरण दिया जरूर है मगर माणिक्यनन्दी के **परीक्षामुख** का उल्लेख नहीं किया, इससे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दी वादिराजसूरि के पूर्वकालीन न होकर निकटवर्ती समकालीन रहे होंगे। लेकिन यहां पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि विद्यानन्दी के ग्रंथों से उद्धरण करने के बाद माणिक्यनन्दी के **परीक्षामुख** से भी उद्धरण करने की आवश्यकता उनको नहीं पड़ी होगी। इतना ही नहीं, किसी एक अर्वाचीन ग्रंथकार द्वारा किसी प्राचीनकालीन ग्रंथकार का अपने ग्रंथ में उल्लेख न करना ही उसके काल-निर्णय में साधक या बाधक नहीं माना जा सकता। विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी दोनों समकालीन थे, इस बात का समर्थन करने वाली नोंपी कथा के पोषक रूप में निम्नलिखित अभिलेखीय साक्ष्य अवलोकनीय हैं।

सोमेश्वर द्वितीय के राज्यकाल में (संभवतः ई० सन् १०७१-७२) के गवरवाड और अण्णिगेरि से प्राप्त दो शिलालेखों से यह सूचना मिलती है कि उल्लिखित मन्दिर का न्यास अधिकार मूलसंघ की शाखानन्दी संघ के बलात्कार गण के गुरुओं में चली आती थी, तथा यह भी कि वर्धमान गंगवंश के प्रारम्भ में गुरू रहे थे और उनके शिष्य विद्यानन्द स्वामि तथा तार्किकार्क माणिक्यनन्दी थे। माणिक्यनन्दी के शिष्य क्रमशः गुणकीर्ति, विमलचन्द्र और गुणचन्द्र थे। गुणचन्द्र के दो शिष्य गण्डविमुक्त प्रथम और अभयनन्दी थे। अभयनन्दी के शिष्य क्रमशः सकलचन्द्र सिद्धांतिक, गण्डविमुक्त द्वितीय और त्रिभुवनचन्द हुए।

गोल्लहल्ली शिलालेख से प्राप्त वर्धमान से त्रिभुवनचन्द्र तक की शिष्य परम्परा में कुछ नामों का अन्तर है—वर्धमान के शिष्य विद्यानन्द थे और उनके शिष्य गुणचन्द्र अष्टोपवासी-पक्षोपवासी-कुक्कुटासन तथा श्रीधर थे। श्रीधर के शिष्य क्रमशः चन्द्रकीर्ति और मेघचन्द्र थे। मेघचन्द्र के ३ शिष्य नेमिचन्द्र, वासुपूज्य त्रैविद्य और मलेयाल पंडित थे। वासुपूज्य त्रैविद्य के शिष्य क्रमशः कुमुदचन्द्र, वासुपूज्य, उदयचन्द्र और त्रिभुवनचन्द्र थे।

उपरोक्त अभिलेखीय उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि प्रथम दो शिलालेखों के न्यास पर माणिक्यनन्दी की शिष्य परम्परा चली और गोल्लहल्ली में विद्यानन्द के अन्य गुरू-भ्राता श्रीधर की शिष्य परम्परा चली। यह भी इंगित होता है कि विद्यनान्द का ज्येष्ठ गुरूभ्राता होने के नाते माणिक्यनन्दी की शिष्य परम्परा में तो उल्लेख हुआ परन्तु विद्यानन्द की परम्परा ने कनिष्ठ गुरूभ्राता माणिक्यनन्दी का नाम सुरक्षित रखना उचित नहीं समझा। इस दृष्टि से गुणचन्द्र और श्रीधर को विद्यानन्द का गुरूभ्राता न मान कर शिष्य मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। उपरोक्त विवेचन से इसमें अब कोई संदेह बाकी नहीं रह जाता कि **विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी** दोनों एक ही गुरू के समकालीन धर्मभ्राता शिष्योत्तम थे। ★

जनपद ललितपुर के जैन स्मारक

—डा० राम सजीवन शुक्ल

भारत का हृदय स्थल कहा जाने वाला बुन्देलखण्ड अपने पुरा-स्थलों के लिए सुविदित है। इस भूभाग में हिन्दू, जैन और बौद्धधर्म की त्रिवेणी सतत प्रवाहित है। इस के अन्तर्गत स्थित उत्तर प्रदेश का जनपद ललितपुर जैन स्मारकों के लिये प्रख्यात है। इस जनपद के विभिन्न अंचलों में जैन धर्म की विविध पुरासम्पदा स्वरूप जैन प्रतिमायें एवं मन्दिर बहुलता से प्राप्त होते हैं। इस जनपद के प्रसिद्ध पुरास्थल देवगढ़, बानपुर, सीरोन खुर्द, दुधई, चाँदपुर और मदनपुर हैं।

देवगढ़

यह स्थल जनपद मुख्यालय ललितपुर से लगभग ३३ कि०मी० दूर ललितपुर-देवगढ़ मार्ग पर स्थित है। यह ऐतिहासिक, पुरा-तात्त्विक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वेत्रवती (बेतवा) नदी के तट पर जंगलों के मध्य विन्ध्याचल की उपत्यकाओं में स्थित यह प्राचीन स्थल पहले देवताओं के गढ़ के रूप में प्रतिष्ठित रहा होगा। सम्भवतया इसीलिए यथा नाम तथा गुण के आधार पर इस स्थल का नाम 'देवानां गढ़: इति देवगढ़:' (देवगढ़) हो गया। गुर्जर-प्रतिहार शासक भोजदेव के शिलालेख में इस स्थल का नाम 'लुअच्छगिरि' मिलता है। गुप्तकालीन दशा-वतार मन्दिर से थोड़ा आगे चल कर ऊँची पहाड़ी पर जैन अतिशय क्षेत्र स्थित है।

यहां अनेक जैन मन्दिर हैं जिनमें से कुछ लघु आकार के है, जबकि कई विशाल हैं। मन्दिरों की कुल संख्या लगभग चालीस है।[1] इनमें मण्डप और वेदी का सुन्दर विधान किया गया है।[2] इनमें सभी चौबीसों तीर्थंकरों की प्रतिमायें प्रतिस्थापित हैं। तीर्थंकरों की ये प्रतिमायें विभिन्न मन्दिरों में विभिन्न आकार में कहीं लघु तो कहीं विशाल, कहीं सुन्दर तो कहीं अति सुन्दर और सुडौल रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्रतिमाओं के नीचे तीर्थंकरों के नाम भी उत्कीर्ण हैं।

कई छोटे-बड़े मानस्तम्भ भी प्रतिस्थापित हैं, और एक महास्तम्भ भी है। मन्दिरों की ऊँची-ऊँची चारदीवारी में कई सहस्र मूर्तियां इस प्रकार चुनी गयी हैं कि वे सुरक्षित भी रहें और पर्यटकों तथा शोधार्थियों को उनकी आवश्यकतानुसार उपलब्ध भी हो सकें। यहां जैन यक्ष-यक्षिणियों तथा योगिनियों की प्रतिमायें भी उपलब्ध हैं। एक आयागपट्ट और एक सहस्रकूट भी है।

इन मन्दिरों का निर्माण प्राय: नवीं सदी में हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि मन्दिर सं० २० के समीप लगभग सातवीं सदी की भी एक जिनमूर्ति मिली है,[3] सामान्यतया नवीं से १२वीं सदी ईसवी के मध्य की वैविध्यपूर्ण एवं प्रचुर जैन मूर्ति सम्पदा यहां सुरक्षित है। लगभग एक सहस्र से भी अधिक जैन मूर्तियां हैं जिन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) में चन्देल नृपतियों ने जैन धर्म को समान रूप से पल्लवित होने का भरपूर अवसर प्रदान किया। प्रतिमा-लेखों में दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ महत्त्वपूर्ण आचार्यों जैसे वसन्तकीर्ति, विशालकीर्ति एवं शुभकीर्ति के नाम तो मिलते ही हैं, कुछ ऐसे आचार्यों के भी नाम मिलते हैं जो जैन परम्परा में अद्यतन अज्ञात हैं।[4]

बानपुर

बानपुर का सबसे महत्त्वपूर्ण मन्दिर सहस्रकूट चैत्यालय है। इस चैत्य में चारों ओर प्रवेश द्वार हैं। प्रवेश द्वारों के सम्मुख वितानयुक्त अन्तराल है। प्रवेश द्वारों के सिरदलों पर ध्यानावस्थित तीर्थंकरों एवं जैन श्रमणों की प्रतिमायें बड़ी ही कुशलता के साथ उकेरी गयी हैं। अनेक जैन यक्ष-यक्षिणियों का भी कुशलतापूर्वक अंकन किया गया है। सम्वत् १२३७ के आहार अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर का निर्माण जैन श्रेष्ठी देवपाल ने कराया था।[5]

सीरोनखुर्द

बांसी परगना में स्थित सीरोनखुर्द पहले 'सीयडोणी' के नाम से विख्यात था। यहाँ कई प्राचीन अभिलेख व अन्य पुरासम्पदा

प्राप्त हुयी हैं।[6] यह स्थान ललितपुर मुख्यालय से उत्तर-पश्चिम में लगभग २० कि०मी० की दूरी पर स्थित है। ललितपुर से राजघाट अथवा बाँसी से जखौरा होते हुए यहां पहुंचा जा सकता है। सीरोन-खुर्द के पूर्व में सोलहवें जैन तीर्थंकर शान्तिनाथ का मन्दिर स्थित है जिसे बुन्देला राजाओं के समय में निर्मित कराया गया था। शान्तिनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है। अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमायें भी हैं, यथा प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की। मन्दिर से लगभग ४५० गज की दूरी पर एक विशाल जैन मूर्ति एक खेत में पड़ी हुयी है। यह पद्मासनस्थ तीर्थंकर की मूर्ति है।[7]

दुधई

यह स्थल मुख्यालय ललितपुर से लगभग २७ कि०मी० की दूरी पर, मध्य रेलवे के धौर्रा रेलवे स्टेशन से लगभग ११ कि०मी० दक्षिण-पश्चिम की ओर घने जंगलों के बीच स्थित है। वर्तमान में दुधई एक छोटा सा गांव है जिसका अतीत गौरवशाली होने के अनेक संकेत यहां चतुर्दिक बिखरे पड़े हैं। झांसी से प्राप्त एक अभिलेख में 'दुग्ध कुप्पा' का उल्लेख आया है, जो सम्भवतया दुधई के लिए ही अभिप्रेत है। प्राप्त विवरणों से पता चलता है कि प्राचीन समय में यह मुख्य व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण एक बड़े नगर के रूप में विख्यात था। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्देल शासकों की शासनावधि में यह नगर पूर्ण विकसित रहा होगा। दुधई गांव के पूर्व की ओर विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित मन्दिरों का एक समूह है। इसमें ३ मन्दिर जैन धर्म से सम्बन्धित हैं।[8] गांव से पश्चिम की ओर जंगलों के बीच भी मन्दिरों का एक समूह है जिसे 'बनिया की बारात' कहा जाता है। कहा जाता है कि इस मंदिर का निर्माण जैन बनिया देवत-खेवत ने कखवाया था जो सम्भवतया सगे भाई थे।

चाँदपुर

चंदेल शिलालेखों में बहुवर्णित प्रथम चंदेल शासक चंद्रात्रेय के नाम पर निर्मित व बसा हुआ दुधई के पास ही एक अन्य जैन स्थल

चांदपुर है। दुधई और चांदपुर के पारस्परिक सामीप्य के कारण इन दोनों पुरास्थलों को लगभग एक साथ ही दुधई-चांदपुर के नाम से पुकारा जाता है। चांदपुर मध्य रेलवे के धौर्रा स्टेशन से मात्र ३ कि०मी० की दूरी पर स्थित है। यहां जैन मन्दिरों का एक पूरा समूह ही था, जो रेलवे लाइन के पार स्थित था। यहां से प्राप्त जैन मूर्तियां अब रानीमहल, झांसी, में संग्रहीत हैं।

मदनपुर

चन्देल शासक मदन वर्मा द्वारा स्थापित ग्राम मदनपुर में प्राप्त कुल छः मन्दिरों में से तीन मन्दिर केवल जैन धर्म से संबंधित हैं। इसमें मुख्य जैन मन्दिर ३०' ८" लम्बा तथा १४' ६" चौड़ा, एवं बरामदा युक्त है; इसका अन्दर का गर्भगृह ८' ५" लम्बा और ८' चौड़ा है; इसमें एक दिगम्बर प्रतिमा स्थापित है जिसकी चरण-पीठिका पर एक अभिलेख भी है। पश्चिम में एक अन्य जैन मन्दिर स्थित है जिसमें पांच प्रतिमायें स्थापित हैं जिनमें से तीन तीर्थंकर आदिनाथ, चन्द्रप्रभ एवं सम्मतनाथ (सुमतिनाथ) की हैं।

सन्दर्भ :

१. कुछ विद्वानों के अनुसार यहां ३३ जैन मन्दिर हैं जिनमें अनगिनत कला-पूर्ण जैन मूर्तियां विद्यमान हैं। देखिए, मोती लाल त्रिपाठी : **बुन्देलखण्ड दर्शन**, पृ० ११८

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी : **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद**, पृ० १०५

३. U. P. Shah : **Studies in Jaina Art**, पृ० १६-१७

४. Klaus R. Bruhn : **Jina Images of Deogarh**, पृ० ६१

५. जैन श्रेष्ठी देवपाल ने बानपुर में सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया था—

गृहपति वंश सरोरुह सहस्ररश्मि सहस्रकूटयः।
वाणपुरे व्याधितासीत् श्रीमनिह देवपाल इति॥

कैलाश मड़वैया : **बुन्देलखण्ड का विस्मृत वैभव—बानपुर**, पृ० ४५-४६

६. एक अभिलेख को 'सीयडोणी' अभिलेख कहा गया है।

७. स्थानीय लोग इसे 'बैठा देव' कहते हैं। देखिये, एस० डी० त्रिवेदी : **बुन्देलखण्ड का पुरातत्त्व**

८. महेन्द्र वर्मा : **प्राचीन भारत की वास्तुकला**

★

JAINA-DHARMA

—Dr. Rajjan Kumar

Jaina-Dharma is one of the principal religious systems of India. It emphasizes on the purification of head and heart, thought and conduct in an equal measure. It declares that all living beings have equal opportunity to develop their spiritual power. Non-violence, self-control, austerity and equanimity are the criteria for various attributes that find place at the top level in Jainism.

Jina

The religion which enjoins adoration and worship of Jina, or the religion which is propounded by the Jinas, is known as the Jaina-Dharma or Jainism. Jina means one who has conquered the internal enemies and impurities of soul like raga (attachment) and dwesa (hatred) etc., i.e, one who has no attachment and hatred is called the Jina.[1] In the Jain tradition, Jina is also known as Parmatma (the Great Soul), Sarvajna (Omniscient), Sarvadarsee (All Perceiving), Arihant (Destroyer of enemy) and Tirthankara (Ford-finder).

The role of Jinas is multidimensional. They are the preceptor, establisher and so on, for Jainism.[2] According to the Jain tradition there are 24 Jinas. Rishabhadeva is the first Jina and Mahavira is the 24th and last, of the current Cycle of Time. The Jains believe that the Jinas have been in existence from times immemorial of which no beginning can be traced and hence the Jain religion also has no beginning.

The Jinas are the main source through whom the Jain religion flourished out and got established. In essence, Jainism is nothing but a set of principles preached by the Jinas.[3] Thus, it may be presumed that Jainism is a religion of purely human origin and it has emanated from those who attained omniscience and self-control by their own personal effort, and such persons are none other than the Jina.

Spiritual progress

To attain the highest spiritual purity is the main theme of Jainism. Of course, there are many ways prescribed for that but concept of three jewels is the most accepted one. These

three jewels are Samyak Darsana (Right Faith), Samyak Jnana (Right Knowledge) and Samyak Caritra (Right Conduct) [4] All these three are collectively eseential for regaining the purest form of soul.

Mind, thought (vocal) and behaviour (physical) are the three main sources which pollute the purity of Jiva and block the way of spiritual progress.[5] This triple means of Jain religion modifies the mind and brain, rectifies thoughts, sets right the tendencies and purifies behaviour. This is the great formula or ideology of this triple means that takes a great soul to the status of the ultimate soul, i.e , Parmatma.

Ratnatraya

Karma is the link which unites the soul to the body. Ignorance of truth and four passions—krodha (anger), lobha (greed), mana (pride) and maya (delusion) which are called Kasaya or sticky substances where Karmic particles stick, attract the flow of Karmic matter towards the soul.[6] The state when these particles actually infiltrate into the soul and bind it is called Bandha (bondage). The basic aim of Jaina-Dharma to break this bondage and attain the state of pure soul.

To a Jain, Ratnatraya or Three Jewels or Triple Means is the only way through which one acquire the status of pure soul.[7] In technical terminology, this stage is called Moksha (liberation) Passions attract the flow of Karmic matter into the soul. And passions are due to ignorance. Ignorance can be removed only by knowledge. Thus, Right Knowledge is the key to liberation. This knowledge is produced by faith in the teachings of the omniscient (Jina). Hence, faith is necessary. And it is Right Conduct which perfects knowledge since theory without practice is empty and practice without theory is blind

Right Knowledge dawns when all the Karmas are destroyed by Right Conduct. Hence right faith, right knowledge and right conduct, all the three together, form the path of liberation which is the joint effect of these three. These three are inseparably bound up and perfection of one goes with the perfection of the other two.

Good conduct

Good conduct in Jaina-Dharma is said to be of two

kinds—Desa-carita (partial or limited) and Sarva-carita (complete or all embracing).[8] A partial or limited or incomplete renunciation which is to be considered as Desa-carita is expected of a follower of Jaina-Dharma called Sravaka.One who renounces completely, i.e , conducts himself in accordance with the Sarva-carita is known in the Jain tradition, as a Sramana.

Sravaka represents the householder community of the Jains. They are of two types—male Sravaka and female Sravaka (Sravika). Like Sravakas, the Sramanas have also two categories, i.e., male Sramana and female Sramana (nuns). All these four are collectively known as the Samgha and they are the four pillars of the Jain congregation. In the Jain religion, the Sravaka, Sravika, Sadhu and Sadhvi are called the four components of the Dharma-Tıtha of the Tirthankaras.[9]

Sravaka

Sravakas are the most important component of the Jaina-Dharma. They have to perform very hard duty. Because they are householders as well as religious-practitioners, they are bound to perform social and spiritual obligations which they are ordained. Hence, a Sravaka has to accept partial vows, that is called Anuvrata or small vows. The five Anuvratas are[10]—Ahimsa (non-injury), Satya (truth), Asteya (non-stealing), Aparigraha (non-covetiousness) and Brahmacarya (non-indulgence in unrestrained sex)

Before accepting the Sravaka-dharma, a householder must relinquish the following seven vyasana (bad habits)[11]—1. gambling, 2 meat eating, 3. having intoxicating drinks, 4. visiting prostitutes, 5 adultery, 6 hunting, and 7 stealing. In addition, he must inculcate in himself 35 qualities[12] such as to earn money through just and fair means, to dread sin, to serve and adore his parents, to live within his income, to be kind and merciful, to be gentle and to keep his senses under control. These good qualities are called Margana, i.e., the path of religious development because only by imbibing them can a person acquire the capacity to follow the path of Dharma.

Sramana

Sramana is the highest order of the Jaina-Dharma. The importance of Sramana in the Jain religious system is self-proo-

ved because it is known as Sramana-Dharma. Sramana is the living evidence of Jainism. The life-style and ideologies which a Sramana possesses tell the concept of Jaina-Dharma. A Jain Sramana is known as sarva-virati (all renunciation) and a practitioner of Mahavratas (great vows). The five Mahavratas are nothing different from the Anuvratas, i.e., non-violence, truth, non-stealing, non-possession and celibacy.

The difference between the Anuvratas of a Sravaka and the Mahavratas of a Sramana is based on the mode of practice. The Mahavratas are carried on through three means (Trikarna) and in three ways (Triyoga). This may be defined as—by observing Ahimsa, a Sramana is required not to indulge in violence through his mind, body and speech and has to see that neither is he personally involved in violence nor does he get it done by some one else and he also does not even recommend, abet or approve it in the case of others. Similar is the case with other components of the Mahavratas.

For a Sramana, alongwith the five great vows. it is also essential that he should observe five Samitis and three Guptis. Collectively they are called as Ashtapravachanamata. Samiti stands for positive activities or tendencies based on discriminative knowledge. Gupti means the covering or controlling the bad tendencies. Five Samitis are[13]—Irya Samiti, Bhasha Samiti, Esana Samiti, Adana Bhandamatra Niksepana Samiti and Paristhapanikka Samiti. Three Guptis are[14]—Manogupti, Vachanagupti and Kayagupti.

Avasyaka

Avasyaka is an essential duty daily observed by a Sramana as well as a Sravaka. The Avasyaka is of six kinds. The six essential duties for a Sramana are[15] :

1. Samayika : To sit at fixed times in meditation reminding oneself of the unity of all living beings. It is benificial for attaining Samata-bhava (equanimity).

2. Chaturvinsatistava : To pay regard to the 24 Tirthankaras with dedication and devotion.

3. Vandana : To pray to the great Sramanas who uphold the great vows like Ahimsa, Satya etc.

4. **Pratikramana** : While engaged in self-control, to constantly review and weed out the defects of character through reflective retrospection;

5. **Kayotsarga** : To renounce attachment from own body by practising some special kinds of meditation.

6. **Pratyakhyana** : To limit and renounce for some time food and other items of daily use.

The six necessary daily duties of a Sravaka are [16] : devotional worship of the Jina, reverence to the Guru, study of holy books, i.e., Shastra, practice of self-discipline, observance of fasts including the curbing of desires, and charity. The last duty includes providing food to holy persons and to the indigent, medicines and medical aid to the ailing, educational facilities, and protection to those under duress or wrongfully oppressed or persecuted or tyrannised.

The Jain religion is a very vast Dharma. It has infinite number of concepts concerned with religion. Only a Kevalin can know it, but he also does not produce them either in language or writing. So, how can an imperfect man like me produce infinite character of the Jaina-Dharma !

References :

1. पं० कैलाश चन्द्र : जैनधर्म, पृ० ५५-५८
2. भगवती सूत्र, २/८/६८२; स्थानांग सूत्र, ४/३
3. Vilas A. Sangave : Jain Religion and Community, p. 18
4. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्त्वार्थ सूत्र, १/१
5. कायवाङ्मनः कर्म योगः । वही, ५/१
6. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । वही, ८/२
7. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । वही, १०/१
8. उवासगदसाओ, १/११
9. भगवती, २/८/६८२ ।
   Devendra Muni Shastri : **Jaina Religion and Philosophy : An Introduction**, pp. 8-9
10. पंच अणुव्वया, तंजहा— । उपासकदशांग सूत्र, पृ० ५१

11. आचार्य महाप्रज्ञ : जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ० ७०-७१
12. Jaina Religion and Philosophy : An Introduction, pp. 42-43
13. ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः । तत्त्वार्थ सूत्र, ९/५११
14. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । वही, ९/४११
15. Jaina Religion and Philosophy : An Introduction, pp. 42-43
16. Dr. Jyoti Prasad Jain : Essence of Jainism, pp. 23-24

N.B. Technical terms used are given below in the Nagari Script:

जैन-धर्म जिन राग द्वेष परमात्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहंत तीर्थंकर ऋषभदेव महावीर रत्नत्रय सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र जीव क्रोध मान माया लोभ कषाय कर्म बन्ध मोक्ष देश-चारित सर्व-चारित्र श्रावक श्रमण साधु साध्वी संघ धर्म-तीर्थ अणुव्रत महाव्रत अहिंसा सत्य अस्तेय अपरिग्रह ब्रह्मचर्य व्यसन मार्गणा समिति गुप्ति अष्टप्रवचणमाता ईर्यासमिति भाषासमिति एषणासमिति आदानभाण्डमात्रनिक्षेपसमिति परिष्ठापनिककसमिति षड्-आवश्यक सामायिक समताभाव चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग प्रत्याख्यान देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्याय संयम त्याग दान केवलिन् सर्व-विरति तृकर्ण तृयोग श्राविका

TRADITION OF CO-EXISTENCE IN INDIA

—Dr. Shashi Kant

Co-existence is literally the existence of two diagonally opposed doctrines or systems side by side. It presupposes independent development of the two in a spirit of live and let live. The world needs develop the spirit of co-existence today more than ever during its long history because today an intemperate use of the weapons of destruction may well destroy the globe itself. Today, therefore, the principle of co-existence has become not only an essential condition for the preservation of peace in the world but also for the very survival of this planet.

Global Scenario

The Great Powers of Europe first came to realize the necessity of peace during the Napoleonic wars, some 200 years ago. Grant and Temperley, an authority on the history of Europe, write, "The defeat of Napoleon was followed by a long period of peace among the great Powers—a peace moreover that was only in part one of exhaustion. It opened with the attempt of the Great Powers of Europe to make a constructive agreement for peace, the greatest attempt ever made in the history of Europe to this date, an attempt of such importance that it may properly be regarded as beginning a new era of European relationships." But peace could not be established as the spirit of co-existence was lacking and the stronger partners were not disposed to give the lesser ones their due.

Although there was comparative peace on the mainland of Europe during the following century,

the Europeans, wherever they went, created trouble and brought about the conditions of war. The attitude was definitely of intolerance, greed and distrust. It was, therefore, that Britain grabbed the whole of India in the next forty years, waged two Opium Wars in China, occupied the whole of Burma and put Afghanistan to great strains; Russia took away the Amur Province from China and actively tried to dismember Turkey; and France and Germany took an active part in the Battle of Concessions in China and also in the colonial division of Africa.

The intolerance towards, and distrust of, the non-Europeans resulted in the European colonial empires all over the world but mutual intolerence and distrust among the Europeans themselves culminated in the Great War of 1914-18. Then another attempt was made to secure peace by means of the League of Nations. But that, too, failed as the spirit of live and let live was totally absent. Even during the deliberations of the Peace Treaty, the Fourteen Points on which the Covenant of the League was based, were constantly disregarded and nearly all those principles were compromised.

The unfair treatment meted out to Germany led to the rise of Hitler, the disregard of the just claims of Japan antagonised Japan, and the suppression of the just aspirations of the subjected peoples prepared them for open revolt. All this culminated in the World War of 1939-45 and then the Powers again set out to work for establishing peace on a permanent footing by means of the United Nations Organisation. But the atmosphere of distrust continued.

The world was now divided into two distinct camps, one of the United States of America (U.S.A.) and the other of the Union of Soviet Socialist Rebublics (U.S.S.R.). And they were opposed to each other like day and night, not ideologically because both sought self-aggrandisement and increase in their power by bringing in their orbit of tortuous influence the lesser Powers and the young nations of Asia and Africa, but politically because their interests clashed with each other since the area of operation was the same and because each of them wanted to be the sole master of the whole world. Democracy and communism were nothing but a convenient camouflage for their imperialistic designs. Atom Bombs and Rockets and Guided Missiles and Space Satellites–became really a source of grave anxiety to the whole human race so long as they were in the hands of these two opposing camps.

Just as science was giving sharper teeth to the Super Powers, the political scenario was fast changing. Trials of strength were taking place by proxy, all on the mainland of Asia, keeping the developed White Man's preserve unaffected; the arenas were Korea in North Asia, Vietnam in South Asia and Iran-Afghanistan in West Asia. Britain had lost its imperial shine for good, Japan had resurged, Germany had reunited, China had emerged as a Super Power, and India and Pakistan had gone nuke. But the watershed came in 1990 with the U.S.A. succeeding in breaking up the U.S S.R. and emerging as the Sole Super Power; however, in its bid to globalise (more appropriately, to monopolise, rather, hegemonise) the economic and political power through Multi-

National Corporations and World Trade Organisations, the U.S.A. has small contenders in the People's Republic of China and the European Union. Britain still retains some hold in the Indian sub-continent, keeping the plate hot in Pakistan, Bangladesh, Sri Lanka and India. As we walk into the 21st century of Anno Domini, this planet remains the land of strife, and it is imperative that the spirit of co-existence be brought to bear on international relations.

Indian Scenario

The situation in India is no better, although we can legitimately feel proud of introducing the principle of co-existence in international relations since it was for the first time incorporated in the Indo-Tibetan Treaty in so many words. The Pancha Sheela or Five Principles to guide the relations of two countries, were enunciated as : mutual respect for each other's territorial integrity and sovereignty, non-aggression, non-interference in each other's internal affairs, equality and mutual benefit, and peaceful co-existence. The first four principles are nothing but the primary conditons for the emergence of peaceful co-existence. In fact, it is not the means but it is the goal in itself. These five principles were reiterated in the Chou-Nehru Communique in June 1954. They were also accepted to be the guiding factors of international relations at the Bandung Conference. In June 1955 the U.S.S R. also recognized these principles at least in theory and at least in so far as her relations with India were concerned, with the necessary amplification of principle number 3 as "non-interference in each other's internal affairs for any reason of an economic, political or ideological cha-

racter", as would appear from the Nehru-Bulganin Communique issued in Moscow. The Western Powers had yet to appreciate the import of co-existence in international relations. They were still obsessed with the view that it was a doctrine of cowardice and encouraged the oppressor.

India came out to be the champion of the principle of co-existence because in its history there have been statesmen who tried this principle in solving internal and international problems and it cannot be said that they were less successful than those who showed intolerance in administration and advocated war. More than two-thousand-and-two-hundred years ago Asoka Maurya had advocated this same principle in the name of Dhamma Vijaya. He defined Dhamma (=Dharma) Vijaya as a conquest in which love was won. It presupposed a desire for not-putting any living being to harm, restraint of passions, impartiality and cheerfulness. It, thus, banished the idea of aggression and self-aggrandisement at the cost of others. This, at the same time, did not mean that self-defence be weakened or that arrangements for internal peace and security be slackened. Asoka clearly stated that he would try to forgive everyone who did mischief only as far as he could do so without disparaging the defence and security of his empire, and warned the barbarous that if they did not behave properly, even in his repentence he might have to use force. Thus, the Asokan Dharma Vijaya, as rightly summed up by Dr. B. M. Barua, presupposed in all cases consciousness of strength, a sense of certainty about the rightness of the cause espoused, a strong conviction about the success to be attained, a vision

of the future to follow, an interpid will to act, an unabated zeal to proceed, a great power of endurance to withstand the obstacles on the way, a sense of preparedness, a capacity to adjust means to ends, an uncommon energy for incessant action, and a well-disciplined army to carry out the orders.

Asoka also tried to bring concord among the differing ideologies. He insisted upon the growth of the essential elements of the different systems of thought and that they should be liberal. It could be achieved by showing respect to others and listening to them. Asoka strongly deprecated the tendency of condemning others in order to glorify one's own creed as it did still greater harm to one's own creed itself. Restraint of speech, mutual respect and concord were, therefore, commended.

Historically speaking Asoka was the first practical statesman in the world who recognized the merit of tolerence in ideological matters, of goodwill and mutual respect for territorical sovereignty in international relations, and of understanding and public welfare in internal administration. He left a legacy behind him that helped create a healthy tradition of religious toleration in India. Religious persecutions were practically unknown in the pre-Muhammedan India. The impalement of the Jains by the Pandya king Sundara in Madurai in the 7th century A.D. is one exampte of religious intolerance in that period, but it is hard to multiply such examples. Even a few Muslim kings were so touched by this attitude of Indian kings that they also adopted a policy of non-interference in religious matters and allowed much

toleration. Akbar the Mughal was one such example who advocated universal toleration (sulh-i-kul) and even built a temple in his Fort for his Hindu queens.

In internal administration, too, there were potentates who brought to bear justice, understanding and a measure of public weal. The Gupta administration and the Chola administration may be cited as examples. But so far as inter-state relations were concerned the ideal of Asoka died with him to be revived again in the later half of the twentieth century. It was more due to the fact that after Asoka it could not be possible to unite the whole country under a single rule and his successors could, under the circumstances, hardly have that broad vision which he had to combine international goodwill with power to check and effectively counteract foreign aggression.

Historically and constitutionally India is committed to the principle of co-existence in international relations. It is a happy coincidence that after Asoka Maurya only now the largest part of India is politically consolidated and free, and that she has tried to revive the glorious Asokan tradition of co-existence in her internal as well as external affairs. She practises secularism at home and, as laid down in Article 51 of the Constitution, tries the policy of peaceful co-existence in her relations with other nations by endeavouring to "promote international peace and security; maintain just and honourable relations between nations; foster respect for international law and treaty obligations in the dealings of organized peoples; and encourage settlement of international disputes by arbitration".

In this land of ours, that is India, our soul loiters in the labyrinth of religion but never does conscience prick our soul, be it a political leader, a social celebrity, a sportsman or a religious preacher, So a word of caution is needed lest our *dharmatma* (religion enthusiasts) should rush to link this policy of commonsense and sanity with some religious ideology. It should be patently understood that this policy of peaceful co-existence in international relations, as also in internal affairs, has nothing to do with religion of this variety or that variety, even remotely, and is simply guided by the principles of practical wisdom in human relations. In fact, it is the outcome of robust statesmanship which should not be confused with charismatic brinkmanship, politicasterism or populism. It must also be understood that only our strength and its recognition, not our protestations or remonstrations, can ensure peaceful co-existence internationally as well as internally.

—

विचार-विन्दु

ई. सन् की २०वीं सदी की समाप्ति और २१वीं का प्रारम्भ

—डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

२०वीं सदी की समाप्ति और २१वीं के प्रारम्भ को लेकर बहुत दिनों से भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये जाते रहे हैं। यह मत-वैभिन्य स्वाभाविक है क्योंकि पूर्वी और पाश्चात्य जगत में गणन-पद्धति में थोड़ी भिन्नता है। हम पूर्वी जगत के लोग (खास कर भारत के लोग) एक (१) से गणना प्रारम्भ करते हैं, किन्तु पाश्चात्य जगत की परम्परा में गणना शून्य (०) से प्रारम्भ की जाती है। इस भिन्नता से गणना में कोई गड़बड़ी फिर भी नहीं होती है। एकाध उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देंगे।

पाश्चात्य जगत में यदि किसी बालक का जन्म १ जनवरी को होता है तो उसके पहले वर्ष को वे शून्य (०) वर्ष मानते हैं। ३६५ दिन यानी ३१ दिसम्बर को वे उसे एक (१) वर्ष का कहेंगे और तत्पश्चात् उसकी आयु को १+ (one plus) बतायेंगे। अगले वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक वे उसे १+ ही कहते रहेंगे और ज्यों ही ३१ दिसम्बर बीता, वे उसे २ वर्ष का मान लेते हैं तथा आगे उसे २+ वर्ष का बताते हैं। मान लीजिए कोई उस बालक की आयु २० सितम्बर को पूछे तो वे बतायेंगे २ वर्ष + ८ माह और २० दिन। हमारे यहाँ १ जनवरी को जन्मे बच्चे के पहले वर्ष को ही १ कहना प्रारम्भ कर देते हैं और एक वर्ष पूरा होते ही उसे दूसरे वर्ष में मानते या बताते हैं। यहाँ 'पहला' और 'एक' तथा 'दूसरा' और 'दो' शब्दों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। न 'पहला' पूरा एक है और न 'दूसरा' पूरे दो। केवल १५ दिन अथवा ४ माह के बालक को पहले वर्ष में तो बता सकते हैं, पर उसकी आयु एक वर्ष की नहीं बता सकते। हम वर्ष के प्रारम्भ में ही उस वर्ष की संख्या का नामकरण कर देते हैं जबकि पश्चिम में उस वर्ष की समाप्ति पर ऐसा करते हैं।

एक अन्य उदाहरण से बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। किन्हीं दो स्थानों के बीच की दूरी बताने वाले 'मील के पत्थर' (अब किलोमीटर) सड़क के किनारे आप सब ने देखे होंगे। जहाँ से माप प्रारम्भ होती है वहाँ पर गाड़े गये पत्थर पर संख्या शून्य (०) अंकित होती है और वहाँ से आगे एक-एक कि०मी० की दूरी पर गड़े पत्थरों पर संख्या क्रमशः १, २, ३ आदि अंकित की जाती है। जहाँ एक कि०मी० पूरा होता है, वहां के पत्थर पर १ लिखा होता है, पहला कि०मी० जहां प्रारम्भ होता है वहां १ नहीं, ० अंकित होता है। बच्चों के स्केल या पटरी पर अंकित इंच अथवा सेन्टीमीटर की संख्याओं का अंकन देखें : प्रारम्भ में ० अंकित रहता है और प्रत्येक यूनिट जहाँ पर पूरी होती है वहीं उसकी संख्या अंकित की जाती है। चौथे इंच के प्रारम्भ में नहीं, उसकी समाप्ति पर ४ की संख्या अंकित रहती है।

गणना की इस पद्धति से ३१ दिसम्बर की आधी रात को जितने ईसाई सन् पूरे होते हैं, उतने आगामी वर्ष-पर्यन्त लिखे जाते हैं। दूसरे शब्दों में पिछले ३१ दिसम्बर, १९९८, की आधी रात को ईसा के जन्म के १९९९ वर्ष पूरे हो गये थे। इसीलिए पिछले वर्ष वे १९९९+ वर्ष में चल रहे थे अर्थात् १९९९ के ३१ दिसम्बर की आधी रात को उनके जन्म के, २००० वर्ष पूरे हो गये और अगले वर्ष उनकी काल-गणना २०००+ में की जायेगी। दूसरे शब्दों में, पिछला वर्ष ईसवी सन् का १९९९वां वर्ष नहीं वरन् १९९९+ वर्ष था, यानी २०००वां वर्ष था जिसने ३१ दिसम्बर की अर्द्धरात्रि में २००० वर्ष पूरे कर लिये और अगले पल २१वीं सदी को दस्तक दे दी।

२०वीं-२१वीं सदी की काल-गणना में इस भ्रम के पीछे दशकों (Decades) की भिन्न-भिन्न गणना-पद्धतियां भी हैं। यदि सच कहें तो वे ही मुख्य कारण हैं। भारतीय पद्धति में दशक १-१०, १०-२०, २१-३०, ३१-४०, ४१-५०, ५१-६०, ६१-७०, ७१-८०, ८१-९०, और ९१-१०० की वर्ष संख्या में रखे जाते हैं। इस दशकों की यही

१०० की संख्या सदी (century) बताती है। पाश्चात्य गणना में प्रत्येक दशक अलग-अलग नामों से जाना जाता है। उनके दशकों की गणना इस प्रकार है—पहला दशक (ones) ०-९, दूसरा (tens) १०-१९, तीसरा (twenties) २०-२९, चौथा (thirties) ३०-३९, पांचवां (forties) ४०-४९, छठा (fifties) ५०-५९, सातवां (sixties) ६०-६९, आठवां (seventies) ७०-७९, नवां (eighties) ८०-८९ और दसवां (nineties) ९०-९९। उनके पहले दशक में सभी संख्यायें इकाई में हैं तभी वे उस दशक को ones कहते हैं। उनके इस दशक में १० यदि रखा जाता तो उसमें दहाई आ जाती, इसीलिए उनका पहला दशक ० से ९ तक है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनके प्रत्येक दशक में जो ध्वनि पहली संख्या के उच्चारण में निकलती है वही अन्तिम दसवीं संख्या तक रहती है, तभी वे उस ध्वनि के नाम पर अपने दशकों का नामकरण करते हैं यथा ट्वेन्टीज (ट्वेण्टी से ट्वेण्टीनाइन), थर्टीज (थर्टी से थर्टीनाइन), इत्यादि।

यों तो पाश्चात्य जगत पहले वर्ष को ० वर्ष मानता है और ऐसा आभास देता है कि उसकी पहली सदी में केवल ९९ वर्ष ही हैं, परन्तु ऐसा है नहीं। न उनके पहले दशक में ९ वर्ष हैं और न उनकी पहली सदी में ९९ वर्ष। तालिका से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है—यथा पहला दशक और एक शतक—

दशक	0	1	2	3	4	5	6	7	8	9
	0÷	1÷	2÷	3÷	4÷	5÷	6÷	7÷	8÷	9÷
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10

शतक	9	19	29	39	49	59	69	79	89	99
	9 ÷	19 ÷	29÷	39 ÷	49 ÷	59÷	69 ÷	79 ÷	89÷	99÷
	10	20	30	40	50	60	70	80	90	100

[भारतीय काल गणना में गताब्द का भी प्रचलन है। जब हम कहते हैं कि विक्रम संवत् ५७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ तो इसका

अर्थ होता है कि प्रारम्भिक दिनांक को ईस्वी सन् से पूर्व ५७ वर्ष बीत चुके थे। इसी प्रकार शक संवत का प्रारम्भ ७८ ईस्वी में कहने का तात्पर्य होता है कि प्रारम्भिक दिनांक को ईस्वी सन् के ७८ वर्ष बीत चुके थे।

परन्तु जब हम २५२६ वीर निर्वाण संवत् लिखते हैं तो इसका आशय होता है कि निर्वाण की घटना २५२६ वर्ष पहले घटित हुई थी अर्थात् वर्षारम्भ उस घटना से हुआ। यही स्थिति अन्य संवतों में भी वर्ष-निर्देशन की है।

भारतीय पद्धति में १ जनवरी को ईस्वी सन् १ का प्रारम्भ होगा और ३१ दिसम्बर को यह एक वर्ष पूरा हो जायेगा, तब अगली जनवरी से वर्ष २ का प्रारम्भ होगा। इसमें व्यावहारिक दृष्टि से पाश्चात्य और भारतीय गणना में भेद नहीं है। पहली जनवरी को वर्ष २००० का प्रारम्भ हो गया और ३१ दिसम्बर को यह वर्ष पूरा होगा, तदुपरान्त वर्ष २००१ आयेगा।

तृतीय सहस्राब्दी के निर्देशनके लिये २०००-२९९९ की अपेक्षा २००१-३००० अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। यही स्थिति शताब्दी (सदी) की भी है कि २००१ से २१०० को २१वीं सदी माना जाय। इसका पाश्चात्य गणितीय पद्धति से व्यावहारिक असामंजस्य नहीं है, यद्यपि सतह पर भिन्नता लक्षित होती है। अन्त्य वर्ष इसमें अपनी विशिष्ट भूमिका रखता है, यथा २० 'दूसरा दशक', २००० 'बीसवीं शती' और ३००० 'तीसरी सहस्राब्दी' व्यवहार में सूचित करते हैं। पाश्चात्य, या कहें कि आधुनिक, काल गणना में भी second decade का determining factor २० है, twentieth century का २० hundred है और third millennium का ३ thousand है।

डॉ० श्रीवास्तव का उपरोक्त विवेचन वस्तु स्थिति को समझने में सहायक है। —शशि कान्त]

चिन्तन कण

सिद्धशिला का आकार

—ब्र० अशोक जैन

वर्तमान में पूजन की थालियों में सिद्धशिला का आकार देख कर अत्यन्त पीड़ा हुई।

तिलोयपण्णत्ति, गाथा ६८०, में सिद्धशिला का आकार 'उत्ताण-धवल-छत्तोवमाण' अर्थात् 'उत्तान धवल छत्र के सदृश आकार' दिया गया है। **त्रिलोकसार, हरिवंशपुराण, सिद्धांतसार दीपक,** और **आदिपुराण** से यह समर्थित है। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में सिद्धशिला की उपमा अर्द्ध-चन्द्राकार नहीं दी गई है।

विभिन्न शब्दकोशों में 'उत्तान' का अर्थ ऊर्ध्वमुख या चित लेटा हुआ, किया गया है। **त्रिलोकसार**, गाथा, ५५८, के अनुसार— 'उत्ताणट्ठियमंते पत्तं व तणुं तदुवरि तणुवादे'; संस्कृत छाया— 'उत्तानस्थितमन्ते पात्रमिव तनु तदुपरि तनुवाते'; टीका—'उत्ताण-अन्ते तनुरूपमुत्तानस्थितपात्रमिव चषकमिवेत्यर्थः'; अर्थात् 'अन्त में ऊंचे (सीधे) रखे हुए कटोरे के सदृश'।

तदनुसार सिद्धशिला 'सीधे रखे हुए कटोरे के आकार वाली है' और इसका आकार होना चाहिए।

जिज्ञासा

नवधाभक्ति और आर्यिका

—पं० अमरचन्द्र जैन

शोधादर्श-४० (मार्च २०००) में प्रकाशित 'आर्यिका द्वय की मनोव्यथा' के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि माता द्वय (कैलाश-मती जी और सम्मेदशिखरमती जी) का यह कथन सत्य है कि उन्हें कुण्डलपुर क्षेत्र पर अपने बल पर चातुर्मास करना पड़ा, और यह भी सत्य है कि आर्यिका माता को नवधाभक्तिपूर्वक आहार देने के वे न तो आगम प्रमाण दे सकीं और न प्रथमानुयोग के किसी कथानक का उद्धरण ही जिसमें किसी राजा/श्रावक ने आर्यिका को नवधाभक्ति पूर्वक आहार दिया हो।

नवधाभक्ति जैनागम का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ भी विशेष है तथा निर्ग्रन्थ मुनि के अलावा अन्य किसी को भी आहार देने की प्रक्रिया में इसका उपयोग नहीं हुआ है।

मैं स्वयं पूरे चौमासे भर कुण्डलपुर रहा तथा माताजी की क्रियाओं के अनुरूप उनके चौके में निरन्तर आहार देता रहा।

कुण्डलपुर क्षेत्र कमेटी ने चौका (जो माताजी द्वारा राजस्थान से लाये वेतन-भोगी सेवक-सेविकाओं द्वारा चलाया जाता रहा) लगाने हेतु यथायोग्य सुविधा-सामान तथा साधन चौमासे भर जुटाये थे। चातुर्मास के बाद विहार हुआ, उस समय भी क्षेत्र कमेटी ने माताद्वय की आज्ञा व इच्छानुसार उन्हें ललितपुर तक भेजने का प्रबन्ध एवं खर्चा उठाया।

अन्य चौके माताजी के निमित्त न लगने के निम्नलिखित कारण थे—

(१) नवधाभक्ति पूर्वक पड़गाहन को आगम-सम्मत मानना तथा बगैर पूजन के आहार न लेना,

(२) अशौच स्थिति में भी पूजन के लिए बाध्य करना,

(३) जनेऊ पहनने पर पुरुष से (महिलाओं से नहीं) आहार लेना, चाहे वह अव्रती हो,

(४) शूद्र जल छोड़ने तथा नल का पानी पीने में उपयोग में लाने वाले अव्रती श्रावक से आहार लेना,

(५) व्रती श्रावक (७वीं प्रतिमाधारी) से बगैर जनेऊ पहने आहार न लेना,

(६) चौका व्यवस्था सम्बन्धी टीका-टिप्पणी, टोका-टाकी करना,

और (७) जिन श्रावकों या ब्र० बहनों ने उनकी पूजनादि न की हो, आहार के बीच में शुद्धि बोलने पर भी उनसे आहार न लेना और उन्हें बाहर निकाल देना।

विद्वान-वर्ग पंथ-व्यामोह से ऊपर उठ कर श्रावकों को स्पष्ट जानकारी देने की कृपा करें कि—

(१) क्या वस्त्रधारियों का अष्ट द्रव्य से पूजन तथा आर्यिका माताओं की नवधाभक्ति आगम-सम्मत है ?

(२) क्या शासन देवी-देवताओं को जिनेन्द्र भगवान के समक्ष/समकक्ष अष्ट द्रव्य से पूजन का आगम में विधान है ?

(३) क्या आर्यिकाओं को उनकी पसन्द की एक-दो साड़ियों के अतिरिक्त अन्य वस्त्र रखने की/व्यवहार में लाने की अनुमति आगमानुरूप है ?

(४) समोशरण में साधु एवं श्रावकों के दो कोठे तथा श्राविकाओं एवं आर्यिकाओं का एक ही कोठा क्यों निश्चित है ?

और (५) क्या पंचम गुणस्थानवर्ती आर्यिका पूजा-योग्य है ?

——

संस्मरण

दानी कर्ण आज भी हैं

—मूलचन्द जैन

दानी कर्ण का नियम था प्रातः स्नान व सूर्य पूजा के बाद जो कोई भी आवे उसे वह जो मांगे, देना है। महाभारत युद्ध में सत्य के धर्मयुद्ध को जीतने के लिये भगवान् कृष्ण ने कुटिलता का उपयोग करके इन्द्र को ब्राह्मण वेश में कर्ण के पास भेजा और उनसे सूर्य-देवता से प्राप्त कुण्डल और कवच मांग लिये ताकि वह अजेय नहीं रह जाये। नियम-बद्ध सत्य धर्म के प्रतिभावान् उपासक कर्ण ने अपनी अजेयता के अस्त्र कपटी ब्राह्मण को सहर्ष दे दिये, यद्यपि वह समझ चुके थे कि उनको छला जा रहा है। मैं इस घटना को पुराणों की कपोल कल्पित कहानी ही मानता था मगर करीब ३५ वर्ष पूर्व घटित प्रत्यक्ष सत्य ने विवेक को मजबूर कर दिया कि मानना पड़ेगा दानी कर्ण यथार्थ है।

हमारा एक जनरल स्टोर्स शहर के बाजार में मेन रोड पर था। इसे भतीजा संभालता था। शाम को मैं भी बैठ जाता था। रात्रि ८ बजे के बाद हम मित्रों के साथ पड़ोस में रखी हुई बेंच पर बैठ कर गप-शप किया करते थे। एक दिन हमने देखा बेंच पर कोई लेटा हुआ है, पुकारा—"कौन हो भाई? यह तो हमारी रिजर्व सीट है।" २–३ आवाज के बाद भी वह नहीं बोला तो एक मित्र ने हाथ लगा कर उसको उठाना चाहा। वह घबरा कर बोला-"इसको तो बहुत तेज बुखार है, कपड़े फटे हैं, कोई नया भिखारी लगता है।" हमने पास के डाक्टर से दवा दिलवाई और रिक्शा से उसको गन्तव्य स्थान पर पहुंचवा दिया। अब वह प्रतिदिन दुकान पर शाम को आता, मैं उसे १० पैसे देता और अगर कभी चवन्नी दे देता तो वह पान वाले से चिल्लर लेकर १५ पैसे वापिस कर देता। मुझे वह साधारण भिखारी नहीं वरन् विशिष्ट मानव लगा। हम मित्र बन गये।

एक दिन ठण्ड विशेष थी। वह दोनों हाथ सीने पर बांध कर फटे कपड़ों में ठिठुरता आकर खड़ा हो गया। आदत के माफिक १०

पैसे दिये और वह जाने लगा, तभी मैंने पुकारा—"भोला, रूको।" सामने रहने वाले मित्र को पुकारा, वह अच्छे कपड़े पहनने का शौकीन था। उससे मैं बोला, "भाई पूनम, एक जोड़ी कपड़े भोला को दे दो।" हम सब में वह सब से अधिक सहृदय था, तुरन्त गया और बढ़िया कुर्ता, पायजामा व जाकेट लाकर उसको दे दिये और समझा दिया कि पहन लेना। "हाँ," बोल कर भोला चला गया। ठण्ड बढ़ रही थी, भोला का बचाव हो गया।

दूसरे दिन निश्चित समय पर वह आया। वैसे ही हाथ बांधे कंप-कंपाते खड़ा हो गया। मैं कुछ देर तक नाराजगी से उसको घूरता रहा, फिर कुछ जोर से तीखी आवाज में बोला—"तुझको बढ़िया कपड़े पहनने को ठण्ड भगाने के लिये दिये थे, उन्हें बेच कर नशा कर लिया होगा। तुम तो नाली के कीड़े हो, वहीं पड़ा रहना पसन्द करते हो।" और २-४ खोटी-कड़क बात उसको कही, घृणा से १० पैसे दिये और डाँट कर जाने को बोल दिया। वह एक मिनट खड़ा रहा, द्रवित आंखों से मुझे देखता रहा, फिर पास में आकर बारीक आवाज में बोला—"बाबू, मैंने बेचे नहीं, कभी नशा तो क्या बीड़ी भी नहीं पीता। रात को अपनी जगह पर गया तो वहां एक आदमी हाथ-पांव पेट में फंसा कर ठिठुरता हुआ पड़ा था, बैठ कर हाथ लगा कर देखा तो तेज बुखार में मात्र एक फटी चड्ढी पहने हुआ वह बेहोश-सा था। मैंने कपड़े उसको पहना दिये और एक गिलास चाय और डबल रोटी लाकर खिला दी। वापस आकर वहीं सोने को गया पर मुझे सोने के लिये कोई खाली जगह नहीं थी, सो रात भर उसके पास भूखा बैठ कर झपकी लेता रहा।" मैं हत-प्रभ ठगा-सा रह गया। कुर्सी से झटपट उठा, सड़क पर उसके पास गया, गीली आंख और रूआंसी आवाज में बोला—"भाई भोला, मुझे माफ कर दो। भले आदमी, इतना सुनता रहा, पहले ही बता देता।" हम दोनों गले मिल कर रो रहे थे।

अन्तर्मन में मैं सोच रहा था कि "भोला आप अतिमानव हो, निस्पृही, करुणा, सेवा और तत्पर कर्तव्यपरायणता के अनुकरणीय उदाहरण हो, हम सबसे श्रेष्ठ हो। दानी कर्ण के अवशेष हो। आपने तो अपना कवच जरूरतमन्द को मांगे बिना ही सहर्ष दे दिया।

(शेष पृष्ठ १६१ पर)

Points to ponder

PRECIOUS HUMAN LIFE

—Sukhmal Chandra Jain

Persons with highly developed human instincts are virtually divine beings in human form. These instincts are bravery, co-operation, civility, creativity, courage, devotion, dutifulness, diligence, discipline, morality, faithfulness, friendship, forgiveness, grace, honesty, helpfulness, humility, intellect, judiciousness, knowledge, kindness, love, non-attachment, patriotism, peacefulness, sincerity, sympathy, straightforwardness, self-dependence, tolerence, zeal etc.

Persons with powerful and uncontrollable animal instincts are virtually animals in human form. These animal instincts are anger, pride, deceit, greed, egoism, flattery, violence, terrorism, exploitation, sex-indulgence, cruelty, hunger, thirst et al.

Everyone is born imperfect and is, therefore, liable to commit errors, inspite of exercising vigilance. Human life is the occassion to bring divinity in oneself by subduing animal instints completely. To move in that direction, one ought to remember the simple precepts: to err is human, to forgive divine; as you sow, so you reap; do unto others what you wish to be done to you; God helps those who help themselves; all is well that ends well; change is the law of nature; and mind your own business. ★

(पृष्ठ १६० का शेष)

कर्त्तव्य-निर्वाह की यह मिसाल मुझे जिन्दगी भर जगाती रहेगी; चूकने से बचावेगी। आधुनिक दानवीरों (इनवेस्टर्स) में क्या कोई भिखारी भोला के समकक्ष खड़ा होने की योग्यता रखता है? भोला का स्वयं से अर्जित पुण्य अक्षय है। पुण्य इसी प्रकार निःश्रेयस कर्म से कमाया जाता है, धन के प्रदर्शन द्वारा इन्वेस्टमेन्ट से खरीदा नहीं जाता।" ★

(पृष्ठ ११६ का शेष)

अष्टसहस्री के बाद की विद्यानन्द की अधिकांश कृतियाँ पश्चिमी-गंगवंशीय राचमल्ल सत्यवाक्य के राज्यकाल (८१५-५० ई०) में रची गई प्रतीत होती हैं।

इसी अंक में प्रकाशित अपने लेख 'आचार्य श्री विद्यानन्द और माणिक्यनन्दी का समय निर्धारण' में डॉ० एम० डी० वसन्तराज ने इनका समय ७७५ से ८४० ई० के बीच अनुमानित किया है। डॉ० ज्योति प्रसाद जैन ने, अन्यत्र, विद्यानन्द का समय लगभग ७७५-८२५ ई० अनुमान किया है, और इस प्रकार विद्यानन्द के समय निर्धारण में उक्त दोनों विद्वानों में प्रायः मतभेद नहीं है।

माणिक्यनन्दी के विषय में हम **शोधादर्श**-३६ में गुरुगुण-कीर्तन के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं। नयनन्दी के **सुदंसणचरिउ** (सं० ११००-१०४३ ई०) और **सकलविधि-विधान-काव्य** की प्रशस्तियों में और **परीक्षामुख** पर प्रभाचन्द्र की **प्रमेयकमलमार्त्तण्ड** टीका की प्रशस्ति में नयनन्दी और प्रभाचन्द्र ने स्वयं को माणिक्यनन्दी का शिष्य सूचित किया है। तदनुसार उनका समय ११वीं शती ईस्वी का पूर्वार्द्ध सूचित होता है। **परीक्षामुख** पर लघु अनन्तवीर्य की **प्रमेयरत्नमाला** टीका से यह विदित होता है कि माणिक्यनन्दी की निवास स्थली धारा नगरी थी जो कर्नाटक प्रदेश में नहीं थी। अतः **परीक्षामुख** के कर्ता माणिक्यनन्दी, गवरवाड़ और अण्णिगेरे से प्राप्त १०७१-७२ ई० के शिलालेखों में उल्लिखित माणिक्यनन्दी से भिन्न हैं। एक नाम के अनेक व्यक्ति, मुनि, आचार्य आदि होते रहे हैं, अतः इसमें कोई विरोधाभास लक्षित नहीं होता कि गवरवाड़ और अण्णिगेरे के शिलालेखों और **नागस्त्री नोंपी कथा** में यथा-उल्लिखित कोई माणिक्यनन्दी, **आप्त-परीक्षा** आदि पूर्वोक्त कृतियों के कर्ता विद्यानन्द के गुरु-भ्राता रहे हों।

स्याद्वाद विद्यापति कहलाने वाले महान तार्किक एवं टीकाकार विद्यानन्द, जिन्होंने ७वीं शती ईस्वी में हुए भर्तृहरि, उद्योतकर,

कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, व्योमशिव और धर्मकीर्ति तथा ८वीं शती ईस्वी में हुए प्रज्ञाकर, मण्डन मिश्र, भट्ट जयन्त और सूरेश्वर जैसे इतर दार्शनिकों के मतों की समीक्षा की थी और जिनका प्रभाव १०वीं-११वीं शती ईस्वी में हुए माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र और वादिराज सदृश महान जैन नैयायिकों पर पड़ा था, के जीवनवृत्त के विषय में उनकी कृतियों आदि से विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता है। किंवदंतियों के आधार पर यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था और अपनी कुशाग्र बुद्धि से इन्होंने कुमारावस्था में ही न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत आदि आस्तिक दर्शनों का अध्ययन कर लिया था। कालान्तर में जैन-धर्म-दर्शन से प्रभावित होकर उन्होंने जैन धर्म अंगीकार कर लिया और मुनि दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने बौद्ध दर्शन का भी अध्ययन किया। जैन वाङ्मय का सम्यक् आलोड़न-विलोड़न कर अपनी मेधा और प्रखर पांडित्य से वह सभी दर्शनों पर समग्र दृष्टिपात कर अपनी बात युक्तियुक्त ढंग से प्रस्तुत करने में सफल रहे और एक महान नैयायिक के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

—दया कान्त जैन

रिपोर्ट

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन की १२वीं पुण्यतिथि

इतिहास-मनीषी डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, विद्यावारिधि, की १२वीं पुण्यतिथि पर ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में ११ जून को एक स्मृति गोष्ठी सम्पन्न हुई। सरस्वती की मूर्ति पर तथा डॉ० साहब के फोटो-चित्र पर माल्यार्पण के उपरान्त डॉ० जैन द्वारा रचित 'वीतराग स्वरूपम्' और 'जय महावीर नमो' का संगीतमय गायन उनकी पुत्र-पौत्र-वधुओं द्वारा किया गया।

डॉ० शशि कान्त ने अवगत कराया कि श्रद्धेय डाक्टर साहब की दो महत्त्वपूर्ण कृतियों—**भारतीय इतिहास : एक दृष्टि** और **Religion and Culture of the Jains**—के नये संस्करण इस वर्ष प्रकाशित हो चुके हैं और दो अन्य कृतियां—**The Jaina Sources of the History of Ancient India** और **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं**—शीघ्र ही पुनः प्रकाशित होने वाली हैं। उनके द्वारा १९८६ में आरम्भ की गई शोध पत्रिका **शोधादर्श** के ४० अंकों में लगभग ४००० पृष्ठों की ज्ञानवर्द्धक सामग्री प्रकाशित की जा चुकी है। डाक्टर साहब के समस्त लेखन की अनुक्रमणिका तैयार की जा रही है और उनकी समस्त कृतियों को ५-६ खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है।

डॉ० शैलनाथ चतुर्वेदी, डॉ० शिव दयाल त्रिवेदी तथा डॉ० ओम प्रकाश त्रिवेदी ने इतिहास-लेखन में डॉ० जैन के अवदान पर प्रकाश डालते हुए बताया कि वह भारत के ऐतिहासिक परिदृश्य के पुनर्निर्माण में पन्थ-व्यामोह रहित हो समस्त उपलब्ध स्रोतों के सम्यक् आकलन पर बल देते थे। भारत के इतिहास की उनकी प्रस्तुति इस दिशा में अग्रणी कृति है और वह शोधार्थी विद्वानों एवं इतिहास के विद्यार्थियों के लिए प्रेरणा स्रोत बनी रहेगी।

डॉ० पूर्णचन्द्र जैन, श्री भगवान भरोसे जैन तथा श्री नरेश चन्द्र जैन ने डॉ० जैन के सामाजिक अवदान पर प्रकाश डाला।

सर्वश्री लून करन नाहर, प्रकाश चन्द्र 'दास', डॉ० महावीर प्रसाद 'प्रशान्त', राजीव पन्त, घनानन्द पाण्डे 'मेघ', आदित्य चतुर्वेदी, दिनेश चन्द्र अवस्थी, अनिल बांके तथा गया प्रसाद तिवारी 'मानस' ने अपनी रचनाओं का सस्वर पाठ किया और श्रद्धेय डाक्टर साहब को अपनी काव्यात्मक श्रद्धांजलि अर्पित की। श्री अजित प्रसाद जैन ने गोष्ठी की अध्यक्षता की और श्री रमा कान्त जैन ने संचालन किया, तथा इतिहास-मनीषी डॉक्टर साहब को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

विद्वान-मनीषी एवं साहित्यकार श्री लक्ष्मी चन्द्र जैन (नई दिल्ली), डॉ० राम विलास शर्मा (दिल्ली), डॉ० दरबारी लाल कोठिया (बीना), पं० दलसुखभाई मालवणिया (अहमदाबाद), श्रीमती वासंती पानाचंद शाह (पुणे) तथा पं० गजेन्द्र नाथ चतुर्वेदी (लखनऊ), जिनका विगत वर्ष में शरीर शान्त हो गया, को विनयांजलि अर्पित कर गोष्ठी का समापन हुआ।

कटनी से श्री मोती लालजैन 'विजय' ने अपनी विनयांजलि में उद्‌गार प्रकट किये हैं कि "डॉ० ज्योति प्रसाद जी यूं तो सरल, सहृदय, सादगी पसन्द, सदाशयी, सज्जन प्रकृति के थे, किन्तु उनकी समाज सेवा, साहित्य सेवा, परोपकारिता तथा सर्वसमन्वयात्मकता एक उच्चतम आदर्श थी। इतिहास उनका प्रिय विषय था। छात्र उनके लेखन से प्रेरणा लेते, और सहज ही उनके प्रशंसक बन जाते। वे अपनी अमर कृतियों के कारण हमारे बीच में चिरस्मरणीय हैं और रहेंगे। डॉ० साहब की बारहवीं पुण्यतिथि पर उनका श्रद्धापूर्वक भावभीना स्मरण करते हुए हम यह संकल्प लेते हैं कि जैन साहित्य, दर्शन, धर्म, संस्कृति के विकास में यथासंभव सहयोग देते हुए भौतिकता से आक्रमित समाज को सर्वथा जागरूक बनाने में, और दिशाहीन होती जा रही नई पीढ़ी को सुमार्ग में पुनर्स्थापित करने/कराने में भी अपना अमूल्य योगदान देंगे।"

—रमा कान्त जैन

परिचर्चा

कर्म-बन्ध

श्री प्रकाश चन्द्र जैन

शोधादर्श-४० (पृ० १०६-०७) में जस्टिस एम० एल० जैन की कर्म-बन्ध सम्बन्धी शंकाओं के परिप्रेक्ष्य में मेरा चिन्तन है कि संसार में जीव अथवा अजीव कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें अपना कोई गुण अथवा विशेषता न हो और इसी गुण विशेष को उसका स्वभाव अथवा धर्म कहा गया है। द्रव्य में रूपान्तरण भी होते हैं जिसे पर्याय कहते हैं और इसी के अनुसार पुद्गल में जुड़ने-बिछुड़ने की प्रक्रिया चलती है। कषाय से अनुरंजित परिणाम जब प्रकम्पित वा स्पंदित होते हैं तो उनमें एक विशेष प्रकार की आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो कर्म-वर्गणाओं को आकर्षित कर लेती है और यही कर्म-बन्ध है—(सकाषात्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बन्धः—**तत्त्वार्थ सूत्र**, ८/२)।

जीव के कषाय अथवा राग-द्वेषादि भावों से प्रेरित होकर कर्म वर्गणा के पुद्गल जब आत्मा के प्रदेशों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, तभी वे कर्म रूप धारण करते हैं। चूंकि राग-द्वेषादि भाव से पुद्गल-पिण्ड कर्म-रूप प्राप्त करने की शक्ति अर्जित करते हैं, अतः उस शक्ति को भाव कर्म कहा गया है। यदि कर्म-वर्गणाओं में विभाग होता तो वे विपरीत दिशा में भी सोच सकती थीं।

चुम्बक और लोहे का उदाहरण लें। चुम्बक जितना ही शक्तिशाली होगा उतनी ही अधिक मात्रा में वह लोहे को आकर्षित करेगा और दोनों का संश्लेष भी उतना ही प्रगाढ़ होगा। इसी प्रकार जीव के कषाय भाव भी जितने तीव्र होंगे, उसी के अनुसार कम या अधिक मात्रा में कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करेंगे। चुम्बक के प्रति आकर्षण के कारण लोहे में जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार जीव के कषाय भाव के प्रति आकर्षण के कारण कर्म-वर्गणा के पुद्गल में चैतन्य तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

श्री आदित्य जैन

उक्त सन्दर्भ में मेरा चिन्तन कुछ इस प्रकार है कि चैतन्यता आत्मा का गुण है और वह उसकी स्वतन्त्रता को प्रदर्शित करता है। शुद्ध-बुद्ध होने पर आत्मा पूर्णतः स्वतन्त्र होती है और कर्म आदि पुद्गल परमाणुओं से नियन्त्रित नहीं होती। पुद्गल द्रव्यों का व्यवहार निश्चित होता है और समान परिस्थितियों में वे एक निश्चित व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। कर्म की अवधि, किसी कर्म परमाणु विशेष के प्रकार पर निर्भर करती है। **गोम्मटसार** की सन्दर्भित गाथा—

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होत्ति दुविहं तु।
पोग्गपिण्डो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥

में भी शक्ति से आशय कर्म-परमाणु की उस सीमित शक्ति या गुण से है जिसके अनुरूप वह कार्य करता है।

यदि हम सब कर्म परमाणुओं को एक ही प्रकार का मान लें तो अवश्य उनके मिजाज, मिकदार व मियाद की निश्चितता एक-सी होगी, परन्तु कर्म परमाणु भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

जहाँ तक कम्प्यूटर की बात है, उसमें अपना कोई दिमाग या ज्ञान नहीं होता—जो कुछ हम उसमें भर देते हैं वही वह हमको बतला पाता है। अतः पुद्गल में भी दिमाग है, इसका संकेत कम्प्यूटर फिलहाल नहीं देता।

श्री तिलोक मुनि

मेरी विचारणा है कि कर्म पुद्गल, पुद्गल ही है। उसमें कोई दिमाग नहीं है, चेतना नहीं है। अपने स्वभाव से वह प्रतिभाव दिखाते हैं। जीव ही उन्हें ग्रहण करता है, परिणमन करता है और तदनुसार ही फल पाता है। इस प्रकार कर्म पुद्गल में जीव को फल देने की जो शक्ति है, उन सब शक्तियों की रचना जीव स्वयं ही करता है। इसी लिये कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

उदाहरण के लिये शराब जीव को बेभान बनाती है परन्तु बेभान बनने के तरीके का ग्रहण और परिणमन जीव ही करता है।

जीव यदि शराब ग्रहण करे नहीं, घर में लावे ही नहीं, घर में लावे तो उपयोग नहीं करे, उपयोग करे तो मुंह में नहीं डाले—केवल हाथ लगा दे, मुंह में डाले तो थूक दे—पेट में नहीं उतारे, पेट में उतारे तो सीमित मात्रा में पीये, तो वह शराब बेभान नहीं करेगी किन्तु खुद जीव उसे एक साथ मर्यादातीत पियेगा और उसके ऊपर भी असावधानी करेगा तो दुखी होगा। अर्थात् शराब से दुखी होना उस व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है, वैसे ही कर्मों से फल पाना भी जीव के संचालन में है। जिस प्रकार नशे जितनी शराब पीने के बाद कोई सोचे कि मैं बेभान न बनूं तो फिर यह उसके सोचने मात्र से होना उसके हाथ में नहीं रहता है। उसी प्रकार जिस रूप के जिस श्रेणी के कर्म का बन्ध कर लिया फिर उसका उदय में नहीं आना जीव के हाथ में नहीं रहता है।

जिस प्रकार शरीर संरचना खाने-पीने से स्वाभाविक चलती है, अन्दर कोई क्लर्क नहीं है, वैसे ही कर्म बन्ध, उदय आदि भी स्वाभाविक चलते हैं। उसका चलाने वाला चेतन आत्मा है, जो अनादि काल से कर्म पुद्गलों से जुड़ा हुआ होने से ऐसा स्वभाव वाला बना हुआ है कि आश्रव सेवन करता है, कर्म बांधता है और फल भोगता है। जब आश्रव को रोकने की समझ आती है तब नया बन्ध रुकता हैं और पुराने कर्म क्षय करने की कला हाथ में आ जाती है। जीव पुरुषार्थ कर जब सर्व कर्म से मुक्त हो जाता है तो वह सदा के लिये कर्म-रहित शुद्ध-आत्म-दशा सिद्ध-भगवान परमात्मा बन जाता है। फिर लोक में भरे पड़े कर्म पुद्गल उस आत्मा का कुछ भी नहीं करते क्योंकि वह ग्रहण नहीं करता।

लोक में अन्य पुद्गल वर्गणाओं के समान ही कार्मण वर्गणा के पुद्गल सर्व आकाश प्रदेशों में भरे रहते हैं। जीव जब आश्रव द्वारों का सेवन करता है तब वह इन कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है। फिर जीव अपने परिणामों और प्रवृत्ति के अनुरूप उन कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में प्रकृति, स्थिति, स्वभाव व प्रदेश रूप में चार प्रकार से बन्ध विभाजन करता है, अर्थात् उन ग्रहीत पुद्गलों

को ज्ञानावरणीय, वेदनीय आदि प्रकृति रूप में निर्मित-विभाजित करता है। उन पुद्गलों में आत्मा के साथ रहने की स्थिति निश्चित करता है। उनमें मन्द या तीव्र विपाक देना कायम करता है और प्रदेशों को क्रम से व्यवस्थित करता है। इस प्रकार जीव ग्रहण किये पुद्गलों को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप में व्यवस्थित कर बन्ध करता है; यह बन्ध ही उदय की व्यवस्था का मूल है।

कर्म वर्गणाके पुद्गल की सारी रचना प्रक्रिया जीव के अध्यवसाय और प्रवृत्ति के अनुसार होती है अर्थात् उन कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को मूल प्रकृति ८ में विभाजित करना और उनकी स्थिति कायम करना अर्थात् स्थिति बन्ध करना, यह सब जीव स्वयं करता है। जीव के राग-द्वेष कषाय परिणाम भाव हैं और मन-वचन-काया की प्रवृत्ति द्रव्य है; दोनों के संयोग से कर्म बन्ध की सारी व्यवस्था स्वाभाविक होती है।

अन्त में, दिगम्बर परम्परा के विद्वदवर्ग से मेरी जिज्ञासा भी है कि अचेल (दिगम्बर) परम्परा के किस ग्रन्थ में सिद्ध सम्बन्धी विस्तार से तात्त्विक वर्णन मिलता है यथा—देव से आने वाले एक समय में कितने सिद्ध होते हैं, नरक से, तिर्यंच से और मनुष्य से आकर मनुष्य बनने वाले कितने सिद्ध होते हैं पृथ्वी, पानी, वनस्पति से आने वाले एक समय में कितने सिद्ध होते हैं, तथा देव, मनुष्य और तिर्यंच गति से आकर मनुष्य बनने वाले एक समय में कितने सिद्ध होते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में १४ प्रकारे १५ भेदे सिद्ध कहे जाते हैं तो अचेल परम्परा में कितने भेदे सिद्ध कहे जाते हैं ?

——

कलिंग-जिन

श्री ज्ञान चन्द जैन

कलिंगराज खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में कलिंग-जिन का उल्लेख मिलता है। डा० शशि कान्त ने अपने विद्वत्ता एवं शोधपूर्ण अंग्रेजी ग्रन्थ—The Hathigumpha Inscription of Khara-vela and the Bhabru Edict of Asoka—में युक्ति संगत आधार पर स्थापना की है कि हाथीगुम्फा शिलालेख में दिये गये वर्ष महावीर निर्वाण संवत पर आधारित हैं। ऐसा मान लेने में उसमें वर्णित अतीत काल की घटनाओं की संगति पूरी तौर से बैठ जाती है। शिलालेख से प्रगट होता है कि नन्द राजा (सम्भवत: महापद्म नन्द) ४२४ ई० पू० में कलिंग पर विजय के उपरान्त वहां से कलिंग-जिन को मगध ले आया था। कलिंगराज खारवेल ने १७४-१७३ ई० पू० में अपने सैन्य अभियान में उत्तरापथ के राजाओं को त्रस्त किया और मगध के राजा बहसतिमित (बृहस्पतिमित्र) से अपनी पद-वंदना कराई। इसी के आगे शिलालेख की पंक्ति १२ में उल्लेख है—

नंदराज-नीतं च कालिंग-जिनं संनिवेस……

इसके आगे पंक्ति त्रुटित है। लेख के सन्दर्भ से प्रतीत होता है कि वहां कोई क्रियापद रहा होगा और 'पूजयति' फिट बैठता है।

'नीतं' का अर्थ 'लाया हुआ' होता है। 'सन्निवेश' का अर्थ 'नगर के बाहर का प्रदेश' होता है; 'यात्री का डेरा', 'गांव', 'घर', आदि भी होता है। यात्रा के बाद सार्थ जहां ठहरते थे उसे भी सन्निवेश कहा जाता था। क्या उसका अर्थ मन्दिर भी लगाया जा सकता है? क्या इस प्रकार का प्रयोग मिलता है? इस पंक्ति में 'पूजयति' शब्द जोड़ कर तथा सन्निवेश को 'संनिवेसे' पढ़ कर यह अर्थ निकलता है—

(राजा खारवेल ने) नन्दराज द्वारा लाये गये कलिंग-जिन को सन्निवेश में पूजा।

क्या कलिंग-जिन का अर्थ कलिंग-जिन की मूर्ति किया जाय ? क्या खारवेल अथवा नन्द राजाओं के समय तक जिन-मूर्तियों के निर्माण के प्रमाण मिलते हैं ? स्वयं खारवेल ने अरहंतों की पूजा के लिए काय-निषिद्या का तथा उसकी रानी सिंधुला ने निसया का निर्माण कराया था। दोनों शब्दों का आशय स्तूपाकार रचना से है। खारवेल मथुरा में जैनों का जो प्राचीन और सब गृहस्थों द्वारा पूजित स्तूप था, उसकी पूजा करने गया था। बौद्धों की तरह जैनों में भी मूर्ति पूजा प्रचलित होने से पहले स्तूप पूजा तथा बहुत सम्भवत: अरहंत अथवा जिन के प्रतीक चिन्हों की पूजा प्रचलित थी। मथुरा से बहुत से आयाग-पट्ट मिले हैं जो पूजा-शिलापट्ट थे। क्या कलिंग-जिन का आशय जिन की मूर्ति लगाया जाय या उनकी पूजा का कोई प्रतीक-चिन्ह ? हाथीगुम्फा शिलालेख के अगल-बगल में भी दो मंगल चिन्ह स्वास्तिक और नंदिपाद बने हैं।

पटना में बांकीपुर के निकट लोहानीपुर से दो नग्न मूर्तियों के धड़ मिले हैं जिनकी पहचान तीर्थंकर मूर्ति के रूप में की गई है। दोनों मूर्तियां एक शैली की हैं। बड़ी मूर्ति पर मौर्य कालीन पालिश है, छोटी पर पालिश नहीं है। वे तीर्थंकर मूर्तियों की भांति एक पत्थर की नहीं गढ़ी हुई प्रतीत होतीं। वे कुषाण काल से पूर्व की नहीं प्रतीत होती हैं। क्या पत्थर पर मौर्यकालीन पालिश होने या न होने के आधार पर एक को मौर्यकालीन तथा दूसरी को पूर्व-मौर्यकालीन मान कर बिना पालिश वाली मूर्ति की पहचान नन्द राजा द्वारा लाये गये कलिंग-जिन से की जा सकती है ?

डा० शशि कान्त

ऊपर विवेचन में दो बिन्दु विचारणीय हैं—क्या 'सन्निवेश' का अर्थ 'मन्दिर' लगाया जा सकता है, और क्या 'कलिंग जिन' से जिन तीर्थंकर या अरहंत की मूर्ति अभिप्रेत है और यदि ऐसा है तो क्या लोहानीपुर से प्राप्त नग्न धड़ों में से किसी की पहचान उससे सम्भव है।

अमरकोश में गृह के जो २० पर्यायवाची दिये हैं, उनमें 'मन्दिर' भी एक है। अत: यह किसी देव स्थान मात्र के लिए रूढ़

शब्द नहीं रहा। १८८९ ई० में प्रकाशित श्री एल० आर० वैद्य की The Standard Sanskrit-English Dictionary में 'सन्निवेश' के जो विभिन्न अर्थ दिये हैं उनमें एक अर्थ construction या निर्माण भी है। आचार्य राम चन्द्र वर्मा ने **लोक भारती प्रामाणिक हिन्दी कोश** में 'सन्निवेश' का अर्थ 'साथ बैठना या स्थित होना' भी दिया है। इससे यह भासित होता है कि जब किसी निर्मित भवन में आराध्य देवता की पूजा-अर्चना हेतु प्रतीक या मूर्ति की स्थापना की जाने लगी तो उसे देव-मन्दिर (कालान्तर में मात्र 'मन्दिर'), देवालय आदि नाम दिये जाने लगे और चूंकि 'सन्निवेश' एक निर्मित भवन भी होता था, अतः यदि पूजा-अर्चना हेतु किसी आराध्य का प्रतीक या मूर्ति उसमें स्थापित होते थे तो उसके भी वर्तमान प्रचलित शब्दावली के मन्दिर का पर्याय होने में कोई बाधा नहीं है। नंद राजा द्वारा कलिंग लाये गये पूजनीय प्रतीक को अपनी राजधानी के बाहर ही समुचित भवन निर्माण कर प्रतिष्ठित किया गया हो, इससे पाठ के आशय में कोई विसंगति उपस्थित नहीं होती।

जहां तक 'कलिंग-जिन' से अर्हंत, जिन या तीर्थंकर की प्रतिमा से आशय का प्रश्न है, १९७१ में प्रकाशित संस्करण में मैंने लोहानीपुर से प्राप्त बिना पालिश वाले नग्न धड़ से कलिंग-जिन की पहचान सूचित की थी। मार्च १९९६ में **शोधादर्श**-२८ (पृ० १०५) में इस बात को देखते हुए कि तीर्थंकर की मानवाकार मूर्ति १ली शती ईस्वी से प्राचीनतर और कहीं नहीं मिलती, मैंने यह आशंका व्यक्त की थी कि कलिंग-जिन से आशय किसी तीर्थंकर प्रतिमा का न होकर किसी पूजनीय प्रतीक से रहा हो सकता है जो कलिंग के राजवंश का राज्य-चिन्ह (heirloom) रहा हो। परन्तु पुस्तक के द्वितीय संस्करण (२००० ई०) को सम्पादित करते हुए मैंने इस बिन्दु पर पुनः विचार किया और अपनी पूर्वगत विचारणा को अधिक ग्राह्य पाया क्योंकि—

१. मथुरा में आयागपट्ट पर प्रतीक मांगलिक चिन्हों से उकेरी गई मानवाकृति से मानवाकार मूर्ति और उसका भी लांछन

व शासन-देवता और चौरी-डालकों आदि सहित पूरी प्रतिमा तक का विकास-क्रम प्राय: दूसरी शती ई० पू० से ८वीं शती ई० तक लगभग १००० वर्ष की समयावधि का मिलता है। परन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि मथुरा में जैन मूर्तियों के निर्माण का कोई उद्योग था जैसा कि आजकल जयपुर में है, अन्यथा उक्त अवधि में अन्य स्थानों से मथुरा में निर्मित मूर्तियां प्राप्त होतीं। यह भी उल्लेखनीय है कि मथुरा यमुना नदी के पश्चिमी तट पर भारत के उत्तरी भाग में स्थित है और यहां यूनानी, शक, कुषाण आदि बिदेशी आक्रान्ता जातियों के प्रभाव से मूर्ति कला का विकास हुआ जिसमें जैन, बौद्ध, वैष्णव और शैव मतों के आराध्य की मानवाकार मूर्तियों का प्राय: समानान्तर विकास हुआ।

२. भारत के पूर्वी भाग जिसका केन्द्र मगध था, मध्य भाग जिसके अन्तर्गत सांची व भारहुत आदि आते हैं, और नर्मदा नदी के नीचे का दक्षिणी भाग, कला की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते थे। इन प्रदेशों में मथुरा से आयातित मूर्तियां नहीं मिलती। मौर्य कालीन चमकदार ओप (पालिश) और स्तम्भ शिल्प जिस पर विभिन्न आकृतियां सजीवता के साथ मूर्तित हैं, मथुरा से प्राचीनतर शिल्प के प्रतिनिधि हैं। यदि सिंह और वृषभ की मूर्ति पत्थर में तराशी जा सकती थी तो मानव आकृति भी तराशी जाती हो, इसमें संशय की बात नहीं है। चमकदार पालिश मौर्य कालीन शिल्प की विशेषता है, उससे पहले बिना पालिश का शिल्प रहा हो सकता है। अत: पूर्वी भारत में जिसका केन्द्र मगध रहा हो और जिसका प्रसार कलिंग तक रहा हो, स्वतन्त्र मानवाकार मूर्ति के विकास व अस्तित्व को नकारना उचित नहीं प्रतीत होता।

३. प्राय: पांच हजार वर्ष प्राचीन हड़प्पन सभ्यता के अवशेषों में भी स्वतन्त्र मानव आकृतियां मूर्तित मिली हैं। ये भारत में मानवाकार मूर्ति शिल्प की परम्परा को मथुरा में प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य से काफी प्राचीनतर सूचित करती हैं। मथुरा में प्राप्त मूर्ति अवशेषों से यह अवश्य विदित होता है कि प्रारम्भ में जिन, अर्हंत

या तीर्थंकर की मूर्ति अचेल (निर्वस्त्र) और बिना किसी लांछन (तीर्थंकर विशेष के विशिष्ट चिन्ह) के बनाई जाती थीं, तथा धीरे-धीरे उनमें तीर्थंकर-विभेदात्मक लांछन तथा अन्य प्रतिमा-शास्त्रीय लक्षण विकसित हुए। प्राचीनतम मूर्ति मात्र जिन, अर्हंत या तीर्थंकर की हैं, न कि किसी तीर्थंकर विशेष की, और पाद-पीठ पर लेख में नामोल्लेख होने से ही उसे किसी तीर्थंकर से सम्बद्ध किया जा सकता था। यह भी उल्लेखनीय है कि मूर्ति को गढ़ने या तराशने वाले शिल्पी कारीगर थे—वे व्यावसायिक थे जो क्रेता के आदेश या अपेक्षा के अनुसार मूर्ति बना कर देते थे—उनका उस धर्म, मत, आम्नाय अथवा आस्था से जुड़ा होना आवश्यक नहीं था, जैसा कि आज भी है।

लोहानीपुर से प्राप्त धड़ों (torsos) की प्रतिकृति Jaina Art and Architecture के खण्ड १ की प्लेट २१ पर प्रकाशित हैं। बिना पालिश वाले धड़ का शिल्प अनगढ़ (crude) है, हाथ छोटे हैं, शिर नहीं है और पैर भी नहीं हैं; ऐसा प्रतीत होता है कि सिर ऊपर से लगाया गया होगा। पालिश वाला धड़ सुगढ़ है, शिर और हाथ व पैर नहीं हैं, परन्तु शिर का अलग से लगाया जाना इसमें भी भासित होता है। शिल्प की दृष्टि से शैली एक ही प्रतीत होती है। यह मथुरा के कुषाण-गुप्त कालीन शिल्पावशेषों की शैली से अलग और प्राचीनतर है। अतः लोहानीपुर से प्राप्त उक्त शिल्प-कृतियों को पूर्वी भारत में प्रवृत्त मूर्ति-शिल्प का उदाहरण मान लेने में बाधा नहीं है, और शिलालेखीय साक्ष्य कि खारवेल ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र के सन्निवेश में प्रतिष्ठित कलिग-जिन की पूजा की थी, से भी यह समर्थित प्रतीत होता है।

——

साहित्य सत्कार

आचार्य श्री विराग सागर म० ने लखनऊ नगर के अपने अल्प प्रवास में दि० १४-४-२००० ई० को तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र शोध पुस्तकालय का ससंघ निरीक्षण किया तथा पुस्तकालय की सुन्दर व्यवस्था एवं संग्रहीत धर्म साहित्य के उत्तम संकलन को देख कर प्रसन्नता व्यक्त की तथा श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ, बताशा बाजार, भिण्ड-४७७००१, द्वारा प्रकाशित अपना निम्नांकित साहित्य पुस्तकालय को प्रदान किया—

परम रत्नार्चना संग्रह—(सार्थ अभिषेक, पूजा–पाठ संग्रह)—संकलन एवं अनुवाद–आ० श्री विरागसागर म०; २००० ई०; पृ० १२६; मू० रु० २०/-

चारित्र शुद्धि व्रत (पूजा)—रचयिता–भट्टारक श्री जिनेन्द्र भूषण जी, संपादक–ब्र० धर्म चन्द; १९९९ ई०; पृ० १५९; मू० रु० १५/-

धर्म पीयूष (दश धर्मों पर आचार्य श्री के प्रवचन)—१९९९ ई०; पृ० १४०

फूल नहीं ये कांटे हैं (सात व्यसनों पर आचार्य श्री के प्रवचन)—पृ० ५६; मू० रु० १०/-

तीर्थंकर ऐसे बनो (सोलह कारण भावनाओं पर आचार्य श्री के प्रवचन)—पृ० ३०३; मू० रु० ६०/-

आगम चक्खु साहु—१९९५ ई०; पृ० १३५; मू० रु० २२/-

इस पुस्तक में आचार्य श्री ने प्रश्नोत्तर शैली में आर्यिकाओं की नवधा भक्ति (आहार पूर्व परिक्रमा-पूजा-आरती आदि) तथा श्रावकों के यज्ञोपवीत संस्कार को आगम सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया है। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने जिन ग्रन्थों का प्रमाण रूप में उल्लेख किया है उनमें २०वीं शती ईस्वी के आचार्यों/मुनियों द्वारा प्रणीत ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। कदाचित् आचार्य श्री की दृष्टि में ये सभी ग्रन्थ 'आगम' की कोटि में आते है, यद्यपि दिगम्बर परंपरा में श्रुत के एक-देश-ज्ञाता ज्योतिर्धर आचार्यों में

अन्तिम धरसेनाचार्य (प्रथम शती ई०) माने जाते हैं जिनकी वाचना के आधार पर मुनिराज पुष्पदन्त व भूतबलि ने **षट्खण्डागम** महाग्रन्थ की रचना की थी।

तीर्थंकर वर्द्धमान—१९९७ ई०; पृ० ६०

इस पुस्तिका में आचार्य श्री ने भगवान महावीर स्वामी का जीवन वृत्त एवं जीवन दर्शन संक्षेप में परम्परागत शैली में प्रस्तुत किया है। पुस्तिका बालकोपयोगी है।

नैतिक कथा मंजूषा (भाग २)—पृ० ११८; मू० रु० २०/-

इसमें आचार्य श्री ने कुछ शिक्षाप्रद जैन पौराणिक लघु कथाएं रोचक शैली में प्रस्तुत की हैं। पुस्तक बालकोपयोगी है।

चैतन्य चिन्तन, भाग १ व २—१९९९ ई०; पृ० १०९ + २८९; मू० रु० ५/- + २५/-

आचार्य श्री की १९८२ से १९८४ तक की डायरियों में अंकित कुछ चिन्तन कणों को इस संकलन में प्रस्तुत किया गया है।

पहले पूजा फिर काम दूजा—२००० ई०; पृ० १३८; मू० रु० २५/-

आचार्य श्री के इस प्रवचन संकलन में जिन-पूजा व जिन-भक्ति के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

निस्पृही सन्त—ले० श्री सुरेश 'सरल'; २००० ई०; पृ० २५०; मू० रु० ६०/-

श्री सरल जी सिद्ध-हस्त लेखक साहित्य-शिल्पी हैं। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपनी रोचक शैली में आचार्य श्री की अब तक की ३७ वर्षीय जीवन गाथा को प्रस्तुत किया है जो प्रेरणास्पद है।

सिरि चंदप्पह सामि चरिय—ले० श्री जसदेव सूरि विरइय; सं० श्री रूपेन्द्र कुमार पगारिया; १९९९ ई०; पृ० २१४; मू० रु० २५०/-

प्राकृत भाषा की ६४०० गाथाओं में निबद्ध तथा दस पर्वों में विभक्त अष्टम तीर्थंकर भगवान चन्द्र प्रभु स्वामी का यह चरित्र ग्रंथ शान्त रस प्रधान एक महाकाव्य है जिसे उपकेश गच्छीय श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री जसदेव सूरि ने अणहिल्लपुर के वीर-जिन-मन्दिर में

रह कर आचार्य सिद्ध सूरि जी के सानिध्य में संवत् ११७८ (११२१ ई०) में पूरा किया था। हिन्दी प्रस्तावना में विद्वान सम्पादक ने ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय तथा प्रत्येक पर्व का कथासार दिया है।

अष्टक प्रकरणम्—आ० हरिभद्र सूरि कृत; हिन्दी अनुवाद–श्री के० के० दीक्षित; १९९९ ई०; पृ० ११८; मू० रु० ७५/-

यह ग्रन्थ प्रख्यात श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री हरिभद्र सूरि द्वारा संस्कृत भाषा में निबद्ध आठ-आठ कारिकाओं वाले ३२ अष्टकों में मोक्ष साधन संबंधी विविध विषयों पर चर्चा एवं उनके समाधान का संग्रह है। मूल पाठ के साथ हिन्दी अनुवाद टिप्पणियों सहित दिया गया है। प्रस्तावना में प्रत्येक अष्टक का विषय-परिचय दिया गया है। पुस्तक सग्रहणीय है।

अलंकार दप्पण—ले०–अज्ञात, संपादक–श्री एच० सी० भायाणी; १९९९ ई०; पृ० ५४

१३२ गाथाओं में निबद्ध अलंकार शास्त्र का यह एक मात्र उपलब्ध ग्रन्थ है। किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित इस ग्रन्थ का रचना काल १३वीं शताब्दी ई० अनुमानित है। ग्रन्थ में मूल पाठ देवनागरी व रोमन लिपि में, अंग्रेजी अनुवाद सहित दिया गया है। पुस्तक संग्रहणीय है।

–अजित प्रसाद जैन

जैन विद्या गोष्ठी, (द्वितीय भाग)—संयोजक : श्री दुलीचन्द जैन; सं०–डॉ० भद्रेश कुमार जैन; प्रकाशक–श्री भगवान महावीर स्वाध्यायपीठ, श्री एस० एस० जैन संघ, माम्बलम, ४६, वर्किट रोड, टी० नगर, चेन्नई-६०००१६; २००० ई०; पृ० ४६ + १० + आवरण; मू० आत्मचिंतन एवं स्वाध्यायार्थ

प्रज्ञामहर्षि श्री सुमनकुमार जी महाराज के माम्बलम चातुर्मास के दौरान उनके दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ति समारोह के अवसर पर २२ व २३ अक्तूबर, १९९९, को श्री एस० एस० जैन संघ द्वारा आयोजित दो-दिवसीय विद्या गोष्ठी में सात विद्वानों द्वारा किये गये

व्याख्यानों—उपासकदशांग सूत्र में वर्णित जीवन चर्या (डॉ० भद्रेश कुमार जैन), जैन परम्परा में स्वाध्याय (श्री दुलीचन्द जैन), जैनागमों में जीवन-उत्कर्ष के तत्त्व (डॉ० नरेन्द्र सिंह), पर्यावरण : श्रावक व्रतों के सन्दर्भ में (श्री एस० कृष्ण चन्द चोरड़िया), भगवान महावीर की वाणी में विश्व धर्म के तत्त्व (श्रीगती बिजया कोटेचा) प्राकृत भाषा एवं जैन विद्या का विकास कैसे हो ? (श्री शान्तिलाल वनमाली सेठ), और वर्तमान युग में जैन दर्शन की प्रासंगिकता (डॉ० छगन लाल शास्त्री)—की प्रस्तुति इसमें हुई है। पुस्तक पठनीय और ज्ञानवर्धक है।

साधना का महायात्री : प्रज्ञामर्हषि श्री सुमनमुनि—संयोजक—श्री दुलीचन्द जैन; सं० डॉ० भद्रेश कुमार जैन; प्र०—श्री सुमन मुनि दीक्षा स्वर्ण जयन्ति अभिनन्दन समारोह समिति एवं श्री भगवान महावीर स्वाध्याय पीठ, चेन्नई; २३-१०-१९९९; पृ० ६०० सचित्र

प्रज्ञामर्हषि मुनि सुमन कुमार महाराज की दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ति पर प्रकाशित और उन्हें अर्पित इस भव्य अभिनन्दन ग्रन्थ में पांच खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में विभिन्न आचार्यों, जन-नेताओं एवं समाज-सेवियों के संदेश और अभिनन्दनोद्गार पद्य-पद्य में है। द्वितीय में श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ तथा पंजाब श्रमण संघ की परंपरा और सुमन मुनि महाराज के प्रगुरू एवं गुरू का जीवन परिचय समाहित है। तृतीय में मुनि महाराज के शैशव से अब तक के जीवन का लेखा-जोखा विविध प्रसंगों की चित्रात्मक झांकियों सहित अंकित हैं। चतुर्थ में मुनिवर्य के साहित्यिक अवदान का विवेचन है, और पंचम खण्ड में २२६ पृष्ठों में लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों के जैन धर्म, दर्शन और साहित्य से सम्बन्धित विषयों पर २९ ज्ञानवर्धक आलेख हैं जिनमें ४ अंग्रेजी में और शेष हिन्दी में हैं। साधना के महायात्री को भक्तगण द्वारा किया गया यह अर्घ्यदान उनकी गरिमा के अनुरूप है।

कमल बत्तीसी (अध्यात्म कमल-टीका)—रचयिता : आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण स्वामी; टीकाकार : स्वामी ज्ञानानन्द; सं० ब्र० बसन्त; प्र०—ब्रह्मानन्द आश्रम, सन्त तारण तरण मार्ग,

पिपरिया (जिला होशंगाबाद)-४६१७७५; सित० १९९९ ई०; पृ० २०८ + २०; मू० रु० २५/-

मूल कृति **कमल बत्तीसी** १६वीं शती ईस्वी में हुए अध्यात्मवादी क्रान्तिकारी सन्त श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य की बताई जाती है। इसमें ३२ गाथाओं में सम्यक् चारित्र की महिमा का विवेचन हुआ है। इस पर श्री ज्ञानानन्द महाराज ने सरल सुबोध भाषा में **अध्यात्म कमल टीका** की रचना की है जिसे ब्र० बसन्त महाशाज ने सम्पादित किया है। अध्यात्म रसिकों के लिये यह एक पठनीय एवं मननीय कृति है।

जीवनदान—रच० श्रीमती त्रिशला जैन; प्र० : श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर-२५०४०४; पृ० ७२; मू० रु० ७/-

"किसी भी जीव की हिंसा मत करो और यदि पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकते हो तो जितना भी बन सके उतना भी त्याग करने से जीवन में कितना परिवर्तन लाया जा सकता है" अपनी इस बात को मृगसेन धीवर द्वारा मुनिवर से लिये गये जीवनदान व्रत का पालन करने के फलस्वरूप अगले भव में उसके भाग्यशाली धनकीर्ति श्रेष्ठि बन जाने के कथानक के माध्यम से श्रीमती त्रिशला जैन ने प्रस्तुत खण्ड काव्य में स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। साथ ही पुस्तिका में शाकाहार के पक्ष में और मांसाहार, मदिरा, तम्बाकू, पान मसाला आदि के उपयोग के विरोध में जीवनोपयोगी सामग्री संजोयी गई है। पुस्तिका पठनीय है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार—अनुवादिका एवं संपादिका—श्रीमती त्रिशला जैन; प्र० : श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर-२५०४०४; पृ० १००; मू० रु० १५/-

आचार्य समन्तभद्र (दूसरी शती ईस्वी) की संस्कृत भाषा में निबद्ध **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, जो श्रावक अर्थात् गृहस्थ के आचरण के उपयुक्त उपदेशों का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, का सरल-सुबोध भाषा में पद्य-गद्यमय हिन्दी अनुवाद लखनऊ निवासिनी श्रीमती त्रिशला जैन ने प्रस्तुत कृति में किया है। साथ ही ग्रन्थ में अन्तर्निहित विभिन्न

कथा-प्रसंगों को पृथक् से संक्षेप में प्रस्तुत कर कृति की रोचकता में अभिवृद्धि की है जिसके लिये श्रीमती त्रिशला साधुवाद की पात्र हैं।

अध्यात्म चन्द्र भजनमाला—रचयिता–श्रीमती चन्द्रकांता डेरिया; प्र०–श्रीमती सोनाबाई जैन, डेरिया एण्ड सन्स, गंज बासौदा (म० प्र०); सित०-१९९९ ई०; पृ० १३२; मू० अध्यात्म चिन्तन

श्री जिन तारण तरण स्वामी की परम्परा में, गुरू ग्रन्थों के स्वाध्याय एवं श्री संघ के सानिध्य से प्रेरणा प्राप्त कर तथा अपने पारिवारिक संस्कारों को संजोये हुए श्रीमती चन्द्रकान्ता डेरिया ने स्व-आत्म कल्याण की भावना तथा अन्य सबके आत्म कल्याण हेतु समय-समय पर आध्यात्मिक भजन रचे। उनके १५० भजनों और ९ प्रभाती का संकलन प्रस्तुत कृति में हुआ है। अन्त में बाल ब्र० बसन्त महाराज के प्रवचनों से संकलित कर आध्यात्मिक चिन्तन बोध के कतिपय बिन्दु उनकी पुत्री कु० समीक्षा डेरिया द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। अध्यात्म-रसिक इस पुस्तक का पारायण कर आनन्दित होंगे।

दिगम्बर जैन मुनिसंघ और सदोष आहारदान पर विचार—संग्राहक और प्रकाशक : ब्र० हीरालाल खुशालचन्द दोशी, फलटण, जिला सतारा (महाराष्ट्र); १९७३ ई०; पृ० १९८+१२; मू० रु० २५/-

त्यागियों व साधुओं (मुनि, ऐलक, क्षुल्लक एवं आर्यिका) की नवधा भक्ति के सही स्वरूप का ज्ञान समाज को कराने के उद्देश्य से विद्वान ब्र० हीरालाल खुशालचन्द दोशी (अब स्वर्गीय) ने सन् १९७३ ई० में विभिन्न आगम ग्रन्थों– धर्म ग्रन्थों में आये कथनों के परिप्रेक्ष्य में स्थिति स्पष्ट करने का प्रयास इस पुस्तक के माध्यम से किया था। पृ० १०० से १३४ पर नवधा भक्ति के लिए कौन पात्र है और कौन नहीं, इसका विशद विवेचन किया गया है। चूंकि श्रद्धालु श्रावकों के मन में आज भी इस सम्बन्ध में शंका समायी रहती है और पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा चलती रहती है, स्व. दोशी जी की यह पुस्तक इस विषय में मार्गदर्शन करने हेतु आज भी प्रासंगिक है।

पशु-वध बन्दी हेतु पारित आदर्श निर्णय—निर्णायक : श्री सी० के० चतुर्वेदी, सब जज, प्रथम श्रेणी, देहली; प्र०—भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार समिति, श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप—हस्तिनापुर (मेरठ)-२५०४०४; मई १९९९ ई०; पृ० ६० + ४; नि.शुल्क

दिल्ली के माननीय न्यायाधीश श्री सी० के० चतुर्वेदी द्वारा सन् १९९२ ई० में पशु-वध बन्दी हेतु पारित निर्णय का हिन्दी अनुवाद इन्दौर के पशु-प्रेमी, गो-सेवक, श्री बाबू सिंह ठाकुर ने किया था और उसे विनियोग परिवार ट्रस्ट, मुम्बई, ने प्रकाशित कर वितरित किया था। अब उसे मांस निर्यात को रोकने हेतु व्यापक सहमति एवं जन जागृति विकसित करने के उद्देश्य से व्यक्तिगत प्रसार हेतु दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा प्रस्तुत कृति के रूप में पुनः प्रकाशित किया गया है।

श्री चतुर्वेदी के इस ऐतिहासिक निर्णय के सुसंगत अंशों का हिन्दी रूपान्तरण, और उस पर यथावश्यक निर्वचन भी, श्री कैलाश भूषण जिन्दल (लखनऊ) द्वारा **शोधादर्श** के अंक २७, २८, ३१, ३३ व ३५ में पहले ही प्रकाशित किया जा चुका है।

सल्लेखनामती की सल्लेखना—सम्पादक : पं० आनन्द कुमार जैन; प्र० निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, पी-४, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-७०००७; १९९८ ई०; पृ० ८०; मू० आत्म कल्याण

२४ दिसम्बर, १९९७ ई०, को तीर्थराज सम्मेदशिखर पर ८३ वर्ष की वय में यम सल्लेखना द्वारा वीर-मरण को प्राप्त हुई आर्यिका श्री सल्लेखनामती माताजी के प्रति श्रद्धाञ्जलि स्वरूप यह कृति उनकी यम समाधि की प्रथम वर्षगांठ के अवसर पर प्रकाशित हुई है।

मृत्यु ध्रुव है, शरीर नश्वर है। कल कंचन की जिस काया को चन्दन की चिता पर चढ़ा कर आये थे, उसका नाश निश्चित था। तदपि दिवंगत की स्मृतियों को अक्षुण्ण करने हेतु उनके सम्बन्ध में गुरु वर्ग, स्वजनों तथा परिचितों से प्राप्त संस्मरणों आदि

को संजो कर यह स्मरणाञ्जलि प्रस्तुत की गई है। इसमें जहां एक ओर धर्मनिष्ठ नारी श्रीमती सुंहटी देवी पाटनी की प्रेरणास्पद जीवन यात्रा (धर्म यात्रा) के विभिन्न पड़ावों, परिवार, संस्कार, चारित्रिक विशेषताओं आदि का विहंगावलोकन करने को मिलता है, वहीं विद्वान सम्पादक ने इसमें सल्लेखना की परिभाषा एवं महत्त्व को भी सरल ढंग से समझाते हुए यह स्पष्ट किया है कि समाधिमरण आत्मघात नहीं है। साथ ही, आचार्य अमितगति कृत सामायिक पाठ (हिन्दी अनुवाद सहित), तीन समाधि भावनाएं तथा सल्लेखना विषयक अन्य ज्ञानवर्धक एवं भावविभोर करने वाली सामग्री भी संयोजित कर उन्होंने इसकी रोचकता में वृद्धि कर दी है।

वर्द्धमान पञ्चांग (अंक ३)—प्रधान सम्पादक एवं गणितकर्ता : पं० महेश कुमार जैन (डीमापुर); प्र०—संस्कृत ज्योतिष कम्प्यूटर एकेडमी, सर्वार्थसिद्धि, ३१७७-ई, सुदामानगर, इन्दौर-४५२००९; २-२-२००० ई०; मू० रु० २०/-

सामान्यतया वाराणसी और उज्जैन से प्रकाशित होने वाले पञ्चांगों का प्रयोग प्रचलन में रहा है। पं० महेश कुमार शास्त्री द्वारा विभिन्न ज्योतिष ग्रन्थों की सहायता से और कम्प्यूटर द्वारा गणना के आधार पर बनाया गया प्रस्तुत दृकपक्षीय पञ्चांग अन्य सब आवश्यक जानकारियां देने के साथ-साथ इस दृष्टि से विशिष्ट है कि इसमें जैनधर्म सम्मत दैनिक, मासिक, पाक्षिक व्रतों; सभी तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों की तिथियों; तथा प्रमुख आचार्यों की दीक्षा तिथियों आदि का समावेश करने का भी प्रयास किया गया है।

श्री गया प्रसाद तिवारी 'मानस' की काव्य कृतियां :

मानस विनयावली—प्र० श्रीमती मनोरमा तिवारी, ३७२, राजेन्द्र नगर, लखनऊ-४; १९८८ ई०; पृ० ४०; मू० रु० १०/-

ब्रज-बिहार—प्र० हिन्दी परिषद, २२३, राजेन्द्र नगर, लखनऊ-४; १९९० ई०; पृ० ५६; मू० रु० १०/-

मानस काव्य तरङ्गिणी—प्र० उ० प्र० युवा छन्दकार मंच, २०९/२०,

नाल बन्दी टोला, ड्योढी आगामीर, लखनऊ-३; १९९३ ई०; पृ० १०८ + १३; मू० रु० २५/-

प्रणय प्रसून—प्र० हिन्दी परिषद, २२३, राजेन्द्र नगर, लखनऊ-४; १९९५ ई०; पृ० ६४ + २४; मू० रु० १५/-

मनुवाँ मगन मगन है चोला—प्र० हिन्दी परिषद; १९९६ ई०; पृ० ७८ + १८; मू० रु० २५/-

मानस भक्ति भावाञ्जलि—प्र० हिन्दी परिषद; १९९८ ई०; पृ० ९४ + २२; मू० रु० ५०/-

श्रीदुर्गास्तुतिमाला—प्र० हिन्दी परिषद; १९९९ ई०; पृ० १६ + १२; मू० रु० ५/-

'काव्य श्री' पं० गया प्रसाद तिवारी 'मानस' का जन्म कानपुर महानगर में हुआ था और वहीं छात्र जीवन में आचार्य पं० श्याम बिहारी शर्मा 'बिहारी' के शिष्यत्व में उनमें काव्य-सृजन का बीजारोपण हुआ था। सन् १९७९ में उ० प्र० सचिवालय में उप सचिव पद से सेवानिवृत्ति के उपरान्त राजेन्द्र नगर, लखनऊ, में श्री शारदा प्रसाद 'भुशुंडि' के सानिध्य में उक्त बीज पल्लवित-पुष्पित हुआ जिसके फलस्वरूप सन् १९८८ से १९९९ तक क्रमशः उनकी आठ कृतियां प्रकाश में आईं। उनकी सन् १९९७ में प्रकाशित कृति **हम गीत ही गुनगुनाते चले** का संक्षिप्त परिचय **शोधादर्श**-४० में पृष्ठ ६४-६५ पर दिया जा चुका है।

ऊपर उल्लिखित काव्य कृतियों में से **मानस विनयावली, मानस भक्ति भावाञ्जलि** और **श्रीदुर्गास्तुतिमाला** पूर्णतया भक्तिपरक हैं जिनमें रचनाकार के अपने इष्टदेवों के प्रति समर्पित भक्त हृदय के दर्शन होते हैं।

ब्रजभाषा में कवित्त, सवैया और पदों में निबद्ध **ब्रज-बिहार** यद्यपि मुख्यतया कवि की भक्ति भावना की व्यञ्जक है, इसमें शृंगार की छटा और व्यंग्यविनोद का पुट भी देखने को मिलता है। कवि का पत्नीव्रती पति को 'भगोना' और पुरानी पत्नी को 'पुरानी कार' जताने का उपक्रम पाठकों को गुदगुदाने वाला है।

कवित्त तथा सवैया छन्दों में निबद्ध और १० तरङ्गों में तरङ्गित **मानस काव्यतरङ्गिणी** में कवि की विविध अनुभूतियों के दर्शन होते हैं।

प्रणय-प्रसून में खड़ी बोली में २६ गीत हैं जिनमें अपने अन्तस् की कोमल भावनाओं को पिरोकर कवि ने उन्हें अपनी जीवन-संगिनी को सप्रेम भेंट किया है।

मनुवाँ मगन मगन है चोला में घोंघाबसन्त-स्तवन से आरम्भ कर कवि ने अपनी ४७ रचनाएं संकलित की हैं और इनमें उनके मस्तमौला फक्कड़ स्वभाव के दर्शन होते हैं। यह भी विदित होता है कि वह ब्रज भाषा और खड़ी बोली पर ही अधिकार नहीं रखते अपितु अवधी में भी रचना करते हैं और हज़ल (उर्दू हास्य कविता) भी लिखते हैं।

उपर्युक्त सभी कृतियों को पढ़ने से स्पष्ट हैं कि आज ७९ वर्ष की वय में भी साहित्य साधना में रत 'मानस' जी सरल-सुबोध शब्दों में भावों की भागीरथी प्रवाहित करने में प्रवीण हैं और उनकी रचनाओं का कलापक्ष भी उत्तम कोटि का है। उनकी कृतियों में समकालीन परिदृश्य पर जो समीक्षा है, वह एक जागरूक नागरिक की प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करती है। अस्तु, वह साधुवाद के पात्र हैं और हमारे प्रेरणास्पद भी हैं।

सार्वजनीन स्वास्थ्य—ले० डॉ० पद्माकर द्विवेदी; प्र०-द्विवेदी बन्धु प्रकाशन, महाराजगंज, बस्ती; २००० ई०; पृ० २२२; मू० रु० १२०/-

जनता को स्वास्थ्य के प्रति जागरूक करने के उद्देश्य से जन-शिक्षक की अहम् भूमिका का निर्वहन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त चिकित्सक, विशेषत: नेत्र चिकित्सा विशेषज्ञ, डॉ० पद्माकर द्विवेदी ने अपने ज्ञान और अनुभव का प्रसाद सर्वसाधारण को वितरित करने के लिये समय-समय पर लेख निबद्ध किये जो देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। प्रकाशित ४१ लेखों को 'स्वास्थ्य सम्पदा', 'स्वास्थ्य संसाधन', 'स्वास्थ्य साधना' और 'स्वस्थ संकल्प'

नामक चार खण्डों में वर्गीकृत और संकलित कर उन्होंने प्रस्तुत कृति का रूप दिया है। इस जनोपयोगी प्रकाशन के लिए डॉ० द्विवेदी सराहना के पात्र हैं।

—रमा कान्त जैन

Dr. A. N. Upadhye : His Life and Accomplishments—by Dr. B. K Khadabadi; pub. Ahimsa Mandira Prakashana, 1, Darya Ganj, New Delhi-110002; 1999; pp. xxii + 70; price Rs. 40/-

Dr. B. K. Khadabadi has dealt with the life and accomplishments of his teacher and guide Dr. A. N. Upadhye with due regard and objectivity. Dr. Adinatha Neminatha Upadhyaya, known as Dr. A. N. Upadhye to the scholarly world and his students, was born on 6-2-1906 in a family of Jaina priests at Sadalaga in the Belgaum district, had his primary education in Kannad in the home town, moved to Belgaum for secondary education, to Kolhapur and Sangli for Graduation and to Pune to do M.A. in Prakrit and Sanskrit, and finally settled in Kolhapur where the journey ended on 8-10-1975. After doing M A. in 1930 he joined the Rajaram College, Kolhapur, as lecturer, later Professor, of Ardhamagadhi Prakrit and on retiring in 1962, worked as Professor Emeritus at the Shivaji University, Kolhapur, till 1971, and then for 4 years he headed the Jaina Chair in the University of Mysore. It was the first Jaina Chair which Dr. Upadhye got converted into an independent and full-fledged Post-Graduate Department of Jainology and Prakrit, setting a role model for other such Chairs. In 1939 he submitted his critically edited **Pravacanasara**, with Introduction, for Ph.D. to the Bombay University, but the work having been adjudged as of very high standard and most original, deserving D. Litt., in the opinion of one of the experts, he was conferred the D. Litt.

Dr. Upadhye's motto was "whatever faith you have started with, stick up to it until you reach your goal." And with this he inspired the fellow scholars and the research students seeking his guidance He started writing and publishing research papers in 1933 and his 185th research paper, 'Prakrit Literature in Karnataka", written a few months before his demise in 1975, was published in the **Tulsi-Prajna** in 1976. He

usually wrote in English, but also wrote some useful pieces in Kannad. He was actively associated with the Oriental Conference, and used to attend and organise seminars as they provided opportunity for discussion and gave impetus to further research.

Dr. Upadhye was an Orientalist with edge on Indology and special reference to Jainology, to include Digambara and Svetambara as well as secular Prakrit and Sanskrit works, namely, **Pravasanasara, Parmatma-Prakasa, Tiloyapannati, Brhatkathakosa, Lilavaikaha, Kuvalayamala** and **Dhurtakhyana** (Jaina works) and **Chandralekha Sattaka, Anandasundari Sattaka, Sringaramanjari Sattaka, Kamsavaho, Usaniruddham** and **Saptasatisara** (non-sectarian or secular works).

Dr. Khadabadi, himself a retired Head of Jainology Chair in the Karnataka Univerisity, Dharwad, had a life long aasociation with Dr. Upadhye since his first contact as a student in 1947. He wrote it as 4 lectures, now 4 chapters, to respectively deal with Dr. Upadhye's personality, accomplishments (in teaching and academics), contribution to Jainology (as teacher of Prakrit, & editor and researcher of Jain works) and contribution to Prakrit, Sanskrit and Kannad literature and languages. Compendium of Dr. Upadhye's 185 research papers should be published as was his last wish and which have been edited by Dr. Khadabadi,but it is regretted that there are no takers among the Jaina Oriental publishers (who have little interest in academic publishing, unfortunately). A little more care could have avoided the printer's devils like Upotanasuri (for Udyotanasuri), Hornale (for Hoernle) and Ludwing (for Ludwig).

The work also carries a note about Shri Raj Krishna Jain Charitable Trust, New Delhi—its activities, founders and present trustees who took up the burden of publishing this booklet.

The author and publishers need be complimented for bringing to light so objectively the personality of Dr. Upadhye, a leading pioneer of Prakrit and Jainological studies with modern research methodology in the 20th century.

Springs of Jaina Wisdom (**जिनवाणी का निर्झर**)—by Sri Dulichand Jain; pub. Sri Chintamani Parshvanath Jain Swetambara

Mandir, Bhupatiwalla, Haridwar-241410; 2nd. ed., 2000; pp. 149 + iv; price Rs. 25/-

This is a compilation of 230 aphorisms (सूक्ति) from the Jaina Agamic texts listed on p. 149. The first edition (1999) contained only 200 aphorisms and was noticed in the Shodha-darsh-38 (pp. 187-88). This time the aphorisms have been classified under The Self (आत्म-तत्त्व), Knowledge and Conduct (ज्ञान और चरित्र), The Path of Liberation (मुक्ति का मार्ग), Conquest of Passions (कषाय-विजय), Mind (मन), Karma (कर्म), Reflections (भावना-सूत्र), Religion (धर्म), Learning and Meditation (शिक्षा एवं स्वाध्याय), and Miscellaneous (विविध). Each aphorism is titled and has been rendered into chaste Hindi prose, followed by translation into English. They are not loaded with philosophic abstraction or dogmatic assertion, and can be easily understood. It would be more useful if the original text with reference, is also given.

Glimpses of Jain Philosophy and My Thoughts—by Sri Indra Jit Jain; pub. I. J. Jain, 113/233, Swaroop Nagar, Kanpur; 3rd. ed., 2000; pp 64

This is the 3rd edition of Sri Indra Jit Jain's introduction to Jainism. Now in his late seventies, he is a practising Taxation Advocate, and besides being active in social life, has been studiously interested in Jain philosophy. In a succint manner he has given the gist of Jain philosophy, culled from the entire Jain Scripture under the 4 heads—1. Prathama-Anuyoga (legendary account), 2. Karuna-Anuyoga (the reals), 3. Charna-Anuyoga (code of conduct) and 4. Dravya-Anuyoga (nature of substances). It carries the English translation of मेरी भावना by Jugal Kishore Mukhtar 'Yugavira' as My Thoughts, and also a glossary of technical terms. Besides conveying rudimentary knowledge about Jain religion and philosophy, the booklet may whet the curiosity to know more about the subject.

Nandyavarta : An Auspicious Symbol in Indian Art—by Dr. A. L. Srivastava; pub. Kitab Mahal, 15, Thornhill Road, Allahabad; 1991; pp. xiv + 138; price Rs. 250/-

The study is in 2 Parts respectively dealing with the study of the symbol, and Nandyavarta in Indian Art. It carries Foreword by Dr. Umakant P. Shah, has an exhaustive bibliography and an index, and is profusely illustrated with line sketches of the symbol found on coins, seals and sealings, epigraphs, architectural devices, various pottery, stone and metal objects, Ayagapattas, Buddhapadas, and Buddha and Jaina images and pedestals, faithfully etched on 28 pages. The illustrations graphically convey the depiction of this symbol from the Harappan Culture down to c. 4th-5th century A.D. But it is popular even today because, as surmised by Dr. Srivastava, 'Nandyavarta' is a compound of 'Nandi' and 'Avarta' which together connote the turning or revolving (avarta) of happiness or welfare (nandi), and since in an agricultural economy 'nandi' (bull) plays an important role and brings 'dhanya' (grain) which is a source of happiness and welfare to the producer, it gained popularity as an auspicious symbol among the masses.

The symbol is popular as Trisula among the Brahmanical cults, and as Triratna among the Buddhists, and as Nandipada and Nandyavarta it has been popular among the Jains particularly and among others generally.

Taking the single symbol for an intensive study, tracing its origin to the Brahmi letter ma or taurine and its development through trident or tripod to the labyrynthine Svastika, and illustrating it with available art forms as well as punctuating it with textual references from the Jain, Buddhist and Brahmanical literature, was an arduous job. Dr. Srivastava has accomplished it thoroughly, for which he well deserves the compliments of the serious students of art-history.

Presidential Addresses—The Asiatic Society, 1, Park Street, Calcutta-700016

The Presidential Address for 1998-99 by Prof. Dilip Kumar Biswas, gives an account of the linguisti,cethnic,archaeological and anthropological studies during the last 200 years, into the cultural complex of the Indian sub-continent. The excavations at Mehergarh (Pakistan), Mundigak (Afghanistan) and Dholavira (Gujarat in India) have pushed back the antiquity of civilization in the Indian sub-continent to c. 7000 B.C., and

the ancient period of the history of Indian civilization now covers nearly 8000 years, verging on the Muslim onslaught in c. 1200 A.D. The Indian (popularly called Hindu) culture metamorphised during that period. Prof. Biswas has made an interesting survey of the vast cultural canvass, but it seems to echo the European bias for import theory about the cultural strains.

My own perception on the genesis of Prakrit languages and the origin of the art of writing in India, in Part III of my book—**The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka** (2nd. ed., 2000 A D.), also needs attention.

The Presidential Address for 1999-2000 by Dr. Bhaskar Raychaudhuri, deals with Medicine in India—Past, Present and Future. It objectively shows that the Ayurveda system of medicine based primarily on empirical science, had its glorious period from c. 2nd century B.C. when the treatises of Charaka and Susruta were actually redacted, down to c. 12th century A.D. With the advent of Muslim rule it lost partronage of the gentry and the place of honour was taken by the Unani Tibb system. Under the European rule, both Ayurveda and Tibb received a jolt. The modern medicine, better known as Allopathy, was firmly established with the founding of Medical Colleges at Calcutta and Madras in 1835, followed by one at Bombay in 1845 and another at Lahore in 1860. During the 20th century modern medicine has made rapid strides and now Hitech Medicine may be the norm. But with the advent of independence, the government at the centre and state levels also launched programmes to revive, revitalise and develop the Ayurveda, Siddha and Tibb systems.

There was an International Seminar on the teaching of Ayurveda at the Gujarat Ayurveda University, Jamnagar, in January 2000, and on Vice-Chancellor Dr. P. N. V. Kurup's invitation, I had suggested, from my experience of medical administration, that the best way would be to teach Ayurveda (as also other traditional systems and the Tibb and Homoeopathy) as a specialisation post-graduate course based on tried research in specific ailments, instead of going in for any sort of integrated graduation course through a combined PMT in which the tail-enders are allotted to Ayurveda and Tibb, who also do not have rudimentary knowledge of Sanskrit or Persian and Arabic.

I am indebted to my friend Sri K. C. Jain, a life-member of the Asiatic Society, to have kindly made available these knowledgeable and thought-provoking Presidential Addresses.

Jain Spirit—Ex.Ed. Dr. Atul K. Shah; pub. Young Jains (U.K), 14 Cowdray Centre House, Cowdray Avenue, Colchester, COI, IQB, U. K. ; yearly subs. Rs. 500/- C/o Jain International, 21 Saumya Apartments, Ahmedabad-380014

This is a quarterly journal, started in Sept. 1999, by some socially conscious Jains living outside India. Nos. 3 and 4, before me, show that the present generation of the Jains would sink their sectarian differences to find an identity as adherents of Jainism in the alien environment of the countries/communities/societies where they are placed for business or profession. Both the numbers are nicely brought out, with good readable material, fine illustrations and a window on the Jain milieu.

A few words of caution may be added :

1. The younger generation should be made aware of the rudiments and heritage, but it should not carry them to obscurantic ritualism which they may not be able to justify or defend;

2. Conversion or detiling tactics of the Christians and Muslims should be exposed and the community warned against them; and

3. Some organisations and individuals may like to take advantage of the Jain principles of non-violence and compassion, with the ulterior motive of killing or hurting Indian economy—our intelligent people in America, Europe and Australia should expose such designs instead of being carried away by the stirring of emotional chord by these designers.

पञ्चाल—सं० डॉ० करुणा शंकर शुक्ल, डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव; प्र०—पंचाल शोध संस्थान, ५२/१६, शक्कर पट्टी, कानपुर-२०८००१; २००० ई०; पृ० २३५ + ५२ चित्रांकन; मू० रु० १५०/-

पंचाल शोध संस्थान के प्रस्तुत १२वें वार्षिकांक में भाग एक में २३ शोध निबन्ध हिन्दी में हैं और ८ अंग्रेजी में, तथा भाग दो में संस्थान की रिपोर्ट, समीक्षायें और लेखक-परिचय हैं। 'श्रवण महावीर और भगवान बुद्ध की समकालावधि' पर डॉ० एम० एल०

बोहरा ने अपने निर्वचन में संवत्सरों के खगोलीय-योग-समानोदन (astronomical conjuctual investigation) के आधार पर महावीर निर्वाण ५०७ ई० पू० में और बुद्ध का परिनिर्वाण ९ वर्ष बाद ४९८ ई० पू० में सूचित किया है, और इस प्रकार गुत्थी में एक और पेंच डालने की पेशकश की है। 'श्रवण' विशेषण महावीर के साथ 'श्रमण' के भ्रम में कदाचित लगाया गया है। डॉ० ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव का लेख 'पुष्यमित्र का कुल वैम्बिक था, शुङ्ग नहीं', विचारणीय है।

समीक्षाओं के अन्तर्गत डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव ने Paul Martin-Dubost की पुस्तक Ganesa—The Enchanter of the Three Worlds, डॉ० जगदीश गुप्त की अंग्रेजी में डॉ० करुणा शंकर शुक्ल द्वारा अनूदित Prehistoric Indian Paintings और श्री जयदेव सिंघानिया प्रणीत **जय गणेश** का परिचय दिया है, और **शोधादर्श**-३७ (मार्च १९९९) पर अपना अभिमत दिया है कि 'जो सामग्री संकलित है वह उच्च कोटि के शोध का परिचय देती है'।

जैन आगम—वर्ष १, अंक १ व २ (अप्रैल-सित० २०००)—सं० डॉ० जगदीश प्रसाद जैन 'साधक'; प्र० जैन मिशन, ई-१५५, कालकाजी, नई दिल्ली-११००१९; सहयोग राशि रु० ५०/-

यह त्रैमासिक पत्रिका अप्रैल २००० से प्रारम्भ की गई है और अंक १ व २ प्रकट हुए हैं। इसका उद्देश्य 'जैन आगम को सम्प्रदाय निरपेक्ष, आग्रह रहित निष्पक्ष भाव से, तर्क संगत, आधुनिक परिवेष में, वर्तमान काल, देश एवं परिस्थितियों को ध्यान में रख कर व्याख्या' करने का प्रयत्न करना है। प्रायः एक-तिहाई सामग्री अंग्रेजी में है। अधिकांश सामग्री संकलित है। पठनीय और मननीय है।

अंक १ में डॉ० जगदीश प्रसाद जैन का 'णमोकार मन्त्र : स्वरूप और माहात्म्य' लेख ध्यातव्य है। पंच नमस्कार मन्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध रूप **नमो अरहंतानं नमो सवसिधानं** है और बाद के तीन पद इसमें ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के बाद जोड़े गये हैं,

यह मत हम भी हाथीगुम्फा शिलालेख पर अपनी पुस्तक (द्वि० सं०, २००० ई०) के पृ० ६५ व ६७-६८ पर व्यक्त कर चुके हैं। अरहंत को सिद्ध के ऊपर वरीयता दिये जाने का हेतु कि सिद्ध अपने ही कल्याण में सन्तुष्ट हैं जबकि अरहंत सन्मार्गदर्शक होने के नाते हमारे हितकारी हैं, बुद्धिग्राह्य है। **शोधादर्श**-४० में श्री शान्तिलाल शाह की जिज्ञासा कि इस नमस्कार मंगल सूत्र का 'नाम जप' के रूप में मन्त्र के तौर पर कब से प्रचलन हुआ और इसका महत्त्व कब से बढ़ा, के सन्दर्भ में डॉ० जैन द्वारा प्रस्तुत यह समाधान कि ११वीं शताब्दी ई० से अस्टांगयोग, हठयोग और तन्त्रशास्त्र के प्रभाव से यह 'नाम जप' और चमत्कारिक मन्त्र के रूप में परिवर्तित हुआ प्रतीत होता है, समीचीन लगता है। इस रूप के प्रचलन का श्रेय मध्ययुगीन भट्टारकों और यतियों को विशेष रूप से जाता है जो इस प्रकार अपने अनुयायियों को धर्म की डोर से बांधे रखने का प्रयास कर रहे थे।

आपकी समस्या—हमारा समाधान—वर्ष २, अंक ४-५ (मई २०००)—सं० आचार्य अशोक सहजानन्द; प्र० मेघ प्रकाशन, २३९, दरीबा-कलां, दिल्ली-११०००६; पृ० ८०; वार्षिक रु० १५०/-

हिन्दी की विविध-विधात्मक पत्रिकाओं में यह पत्रिका अपना यथोचित स्थान शीघ्र ही प्राप्त करने की क्षमता रखती है। इसमें अध्यात्म, साहित्य, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, स्वास्थ्य, निजी समस्या-समाधान, यात्रा-वृत्त, इतिहास व सामयिक चिन्तन की मिली-जुली सामग्री है जो जन-सामान्य के लिए रोचक है। रात्रि भोजन पर श्री चंचलमल चोरड़िया के विचार, डा० राजेन्द्र कुमार बन्सल का 'महावीर की धर्म-यात्रा' तथा श्रीमती कुसुम जैन की श्रद्धा-भक्ति के औद्योगीकरण पर समीक्षा, विचार-प्रेरक हैं। 'चक्रवर्ती भरत की ऐतिहासिकता' पर हमारा लेख भी है जिसका निष्कर्ष हैं कि चक्रवर्ती भरत का व्यक्तित्व एक ऐसी ऐतिहासिक वैचारिक अवधारणा का प्रतीक है जो किसी भौगोलिक सीमा से आबद्ध नहीं थी

वरन् वह विश्वव्यापी थी और विभिन्न भू-भागों में वहां के स्थानिक परिवेश के सापेक्ष इसकी व्याप्ति हुई थी।

सम्यक् विकास—वर्ष ३, अंक १ (अप्रेल-जून २०००)—सं० श्री प्रकाश एम० पालावत; प्र० सम्यक् चेरिटेबिल ट्रस्ट, २१, सुफलाम् फ्लैट्स, आश्रम रोड, अहमदाबाद-३८०००९; पृ० ४०; मू० रु० ३०/-

विविध विषयक २४ लेख-आदि तथा कुछ अन्य प्रकीर्ण सामग्री **सम्यक् विकास** के प्रस्तुत अंक में हैं। अध्यात्म और सामयिक चर्चा के साथ स्वास्थ्य विषयक सामग्री और स्व० श्रीमद् राजचन्द्र के विचार, उल्लेखनीय हैं। ३ लेख गुजराती में हैं और २ अंग्रेजी में, शेष सामग्री हिन्दी में है। श्री अरविन्द भाई पारेख ने विश्व भर में वेटिकन चर्च की सत्ता स्थापित करने निकले गोरों के काले कुकर्मों की कहानी में, श्री अतुल शाह (मुनि श्री हितरुचि विजय जी) ने "जन्तु नाशक शब्द में 'जन्तु' शब्द का वास्तविक अर्थ 'मनुष्य' है" में और सुश्री विनिन पैरेरा ने *The other side of History* में पाश्चात्य गोरों और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा भारत जैसे देशों के आर्थिक शोषण को उजागर किया है और उसके प्रति सावधान किया है। Humanism in India में हमने मानववादी विचारधारा के भारतीय धरातल को अनावृत किया है।

मुक्तिपर्व—वर्ष १, अंक ३ + ४ (मई २०००)—सं० डा० प्रद्युम्न कुमार जैन 'अनंग', श्री शशि भूषण द्विवेदी; प्र० 'नेहांगन', अग्रसेन नगर, रुद्रपुर (ऊधम सिंह नगर)-२६३१५३; पृ० ७२; मू० रु० २५/-

हिन्दी में प्राय: रचना-धर्मिता को लेकर चलने वाली पत्रिकाओं का अभाव होता जा रहा है क्योंकि उनका व्यावसायिक पक्ष कमजोर है—उनका बाजार नहीं है। डा० प्रद्युम्न कुमार जैन और उनके सहयोगियों ने इस दिशा में प्रयास किया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। कहानी, कविता-गजल और ललित निबन्ध पठनीय हैं। साहित्य को 'दलित' और 'कुलीन' की कुंठाओं में समेट लेने से उसकी सृजनात्मकता और भाव-मूलकता ही शून्य हो जायेगी, कदा-

क्षित श्री ओम प्रकाश बाल्मीकी ने इस पर चिन्तन नहीं किया, अन्यथा वह 'दलित साहित्य की प्रासंगिकता' को इस रूप में प्रस्तुत न करते। सम्पादक-वृन्द जो रचना-धर्मिता के प्रति प्रतिबद्ध हैं, भी इस ओर ध्यान देंगे और साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार के अलगाववादी नारा-मूलक विवादों को पनपने देने में सहायक नहीं होना चाहेंगे। रामायण की रचना बाल्मीकि ने की थी, तो क्या उसे 'दलित साहित्य' के कठघरे में कैद कर दिया जाय, यह विचारणीय है।

जैन प्रदीप—वर्ष २, अंक ९ (मई २०००)—सं० श्री कुल भूषण कुमार जैन; प्र० ज्योति चेतना संस्थान, प्रेम भवन, चाहपारस, देवबन्द-२४७५५४; पृ० ३२

जैन प्रदीप (मासिक) का यह अंक देवबन्द के ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियों का परिचय देता है जिन्होंने समाज सुधार और राष्ट्रीय चेतना के उन्नयन में विशेष योगदान किया। राधा बल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक श्री हित हरिवंश (१५०२-५२ ई०) वैरागी नहीं बने वरन् गृहस्थ ही रहे, विशेष रूप से ध्यातव्य है। बा० ज्योति प्रसाद जैन (१८८२-१९३७ ई०) जैन प्रदीप के संस्थापक एवं आद्यसंपादक थे जिन्होंने इसे उर्दू में १९१२ से १९३० में अंग्रेजी सरकार द्वारा पाबन्दी लगाये जाने तक प्रकाशित किया था। बा० सूरज भान वकील (ज० १८७० ई०) और पं० जुगल किशोर मुख्तार (ज० १८७९ ई०) जैन जागरण और साहित्य चेतना के अग्रदूत थे। अन्य विभूतियां हैं—शेख महमूद-उल-हसन (मृ० १९३० ई०), मौलाना हुसैन अहमद मदनी (ज० १८७९ ई०), 'पद्म श्री' कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर' (१९०६-९५ ई०), श्री जगदीश चन्द्र मिश्र (ज० १९०१ ई०), श्री बनवारी लाल शर्मा, श्री शरद कुमार मिश्र (ज० १९२० ई०), श्री विजय कुमार शर्मा (ज० १९३१ ई०) और क्रान्तिकारी ठा० मुकन्द सिंह।

प्राकृत और जैनधर्म का अध्ययन (२०वीं सदी के अन्तिम दशक में)—ले० प्रो० प्रेम सुमन जैन; प्र० श्री कुन्दकुन्द भारती प्राकृत संस्थान,

१८-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-११००६७; २००० ई०; पृ० ६८

यह अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के ४०वें अधिवेशन में मई २००० में चेन्नई में प्रो० प्रेम सुमन जैन द्वारा प्राकृत एवं जैन धर्म विभाग के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण है। इसमें १९८९-९९ ई० के दशक में प्राकृत एवं जैनधर्म सम्बन्धी विविध शोध, अध्ययन अध्यापन और प्रकाशन का विशद विवेचन किया गया है जिससे भारत ही नहीं, विदेशों में सम्पन्न गतिविधियों का भी यथेष्ट परिचय मिलता है। इस श्रम-साध्य प्रस्तुति के लिए प्रो० जैन साधुवाद के पात्र हैं।

यह देख कर कुछ विस्मय हुआ कि यद्यपि प्रो० जैन को शोधादर्श नियमित भेजा जाता है, अंक १९ (मार्च १९९३) में लखनऊ विश्वविद्यालय में १९८८-९२ में प्राकृत एवं जैन विद्या पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्धों सम्बन्धी सूचना तथा विभिन्न अंकों में समय-समय पर दी गई शोध सम्बन्धी अन्य सूचना व विवेचना अनदेखे रह गये। यह उल्लेखनीय है कि सिकन्दर के साथ कोई 'दिगम्बर कल्याणमुनि' नहीं गया था (अंक १६ में कालानोस पर विमर्श द्रष्टव्य)। यह भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं है कि कलिंग का सम्राट खारवेल एक ऐसा प्रतापशाली जैन सम्राट था जिसने प्रायः सारे भारत को एक सूत्र में बांध कर कल्याणकारी शासन की स्थापना की थी। ना ही जैन शास्त्रों की शौरसेनी प्राकृत अन्य समस्त प्राकृत भाषाओं की जननी है। इस प्रकार के वक्तव्य किसी प्रवचन सभा में कोई आचार्य प्रवर अपनी आम्नाय की प्रभावना की दृष्टि से दें तो क्षम्य हैं, परन्तु विद्वानों के किसी सम्मेलन में जहां युक्ति संगत शोध-खोज की चर्चा अभिप्रेत है यदि इस प्रकार की सामग्री यथावत प्रस्तुत की जाती है तो वह प्राकृत एवं जैनविद्या सम्बन्धी समस्त अध्ययन की विश्वसनीयता पर ही एक प्रश्न-चिन्ह लगा सकती है।

२१वीं सदी में प्राकृत के अध्ययन की क्या दिशाएं हों, इस पर भी प्रो० जैन ने गम्भीर चिन्तन किया है जो स्वागतार्ह है।

हमारी दृष्टि में प्राकृत और जैनविद्या सम्बन्धी बौद्धिक शोध-परख अध्ययन को साधु वर्ग के शास्त्रबद्ध प्रवचनात्मक साहित्य से अलग रखना अभीष्ट है, अन्यथा वह प्रभावना एवं साधु के मानस्तम्भ से प्रभावित होकर तथ्य-शोधन के लिए निष्प्रयोज्य हो जायेगा और शोध का यथार्थ—विश्लेषण, तुलनात्मक विवेचन, ऐतिहासिक मूल्यांकन—विस्मृत हो जायेगा। इस अध्ययन से जुड़े विद्वानों और शोधार्थियों के लिए यह ध्यातव्य है कि जन भाषा के रूप में व्यवहृत प्राकृत का रूप अभिलेखों में उपलब्ध है और आज वह स्वरूप विभिन्न आंचलिक बोलियों में विद्यमान है; प्राकृत का जो रूप संस्कृत के नाटकों में मिलता है और जो प्राकृत शास्त्रों की भाषा है, वह एक कृत्रिम भाषा है जो जनभाषा कभी भी नहीं थी।

हमारे पूर्वज—हमारे हितैषी—सं० श्री सुबोध कुमार जैन, सं० श्री जुगल किशोर जैन; प्र० श्री जैन सिद्धान्त भवन, देवाश्रम, आरा-८०२३०१; पृ० १४८; मू० रु० १५/-

श्री सुबोध कुमार जैन ने अपने यशस्वी प्रपितामह बा० प्रभु दास, पितामह बा० देव कुमार, पिता बा० निर्मल कुमार तथा परिवार के अन्य स्वजनों और हितैषियों का रोचक विवरण इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। एक वंश का यह २०० वर्ष का इतिहास है जिसे सन्तुलित भाषा में वस्तुपरकता के साथ स्वयं एक वंशधर ने प्रस्तुत किया है। वाराणसी में भदैनी का मन्दिर और स्याद्वाद विद्यालय, कौशाम्बी का जैन मन्दिर तथा आरा में श्री जैन सिद्धांत भवन और श्री जैन बाला विश्राम इस परिवार को १९वीं-२०वीं शताब्दी में जैन धर्म व समाज के उन्नयन से विशेष रूप से जोड़ते हैं। 'पंडित' बाबू प्रभु दास गोयल जैन का वंश-वटवृक्ष विशाल है और उसकी शाखा-प्रशाखायें भारत ही नहीं वरन् अमेरिका और आस्ट्रेलिया तक फैली हुई हैं। पुस्तक चित्रों और चार्टों से सुसज्जित है और पठनीय होने के साथ ही प्रेरणास्पद भी है।

करोहता कुण्डलपुर—ले० श्री नीरज जैन; प्र० मनीषा ट्रस्ट, शान्ति-सदन, कम्पनी बाग, सतना-४८५००१; ११वां सं०, अप्रेल २००० ई०; पृ० १३६, सचित्र; मू० रु० २५/-

कुण्डलपुर (जिला दमोह, म० प्र०) में 'बड़े बाबा' के नाम से प्रसिद्ध ऋषभ नाथ की एक प्राचीन पद्मासनस्थ प्रतिमा है और १७वीं शताब्दी में राजा छत्रसाल बुन्देला के सहयोग से वर्तमान मन्दिर का निर्माण कर इसे उसमें प्रतिष्ठित किया गया था। मन्दिर जीर्णोद्धार १७०० ई० में हुआ था और १९७९ ई० में इसके उत्तुंग शिखर की मरम्मत कराई गई थी। श्री नीरज जैन 'बड़े बाबा' की पुण्य गाथा का प्रचार १९४९ ई० से ही, जब वह २२ वर्षीय नवयुवक थे, करते आ रहे हैं। उनके द्वारा कुण्डलपुर के इतिहास एवं महत्व पर लिखी पुस्तक का प्रस्तुत संस्करण ११वां आपातकालीन संस्करण है जिसे उन्होंने इस व्यथा से लिखा है कि "दुर्भाग्य से पिछले चार-पांच वर्षों में श्री क्षेत्र पर बहुत अप्रिय घटित हो गया है, और हो रहा है। सबसे अधिक लज्जाजनक यह है कि स्वयं क्षेत्र कमेटी ने, नव-निर्माण के प्रलोभन में पड़ कर, बड़े बाबा का शिखर तोड़ कर गिरा दिया है और बड़े बाबा परिसर के चार प्राचीन मन्दिरों को तथा मण्डप की तीन वेदियों को खोद कर फेंक दिया है।" यह एक संरक्षित स्मारक है और पुरातत्व विभाग की निषेधाज्ञा की भी अवज्ञा कर विध्वंस का कार्य किया जाता रहा है। जो चित्र पुस्तक में दिये गये है उनसे मूर्ति पर दरारें स्पष्ट हैं।

जो कुछ तथ्योद्घाटन विद्वान लेखक ने किया है, उसके लिए पाठक उनको साधुवाद देंगे। परन्तु इस प्रलय-सृष्टि के सूत्रधार आचार्य श्री का नामोल्लेख करने का साहस लेखक ७४ वर्ष की वय में भी नहीं जुटा सके, देख कर मन खिन्न हुआ। जैन मित्र (८-६-२०००) में यह समाचार देख कर कि पुरातत्व विशेषज्ञों द्वारा सूक्ष्म निरीक्षण कर यह प्रमाण पत्र दे दिया गया है कि मूर्ति में किसी रूप में कोई दरार नहीं है, दो प्रश्न उभरे कि या तो श्री नीरज ने फोटो गलत दिये हैं अथवा आचार्य श्री असत्य महाव्रत का आचरण कर रहे हैं। कुछ समय पूर्व सुश्री सुमित्रा महाजन, केन्द्रीय राज्यमंत्री, से भी आचार्य श्री पुरातत्व विभाग की निषेधाज्ञा उठाने का आग्रह

कर चुके थे। **दिशा बोध** के जून और जुलाई २००० के अंक श्री नीरज द्वारा बताई गई विध्वंस-कथा का समर्थन करते हैं, अत: अब अपने द्वारा प्रस्तुत फोटोओं के बारे में श्री नीरज को ही स्थिति स्पष्ट करना अपेक्षित हैं।

जैन गजट (१३-७-२०००) में श्री नरेन्द्र प्रकाश के संपादकीय 'कुण्डलपुर का सच : जैसा हमने समझा' ने तो सीधे श्री नीरज को ही कठघरे में खड़ा कर दिया है। यदि इसी प्रकार श्री नीरज को समर्पण करना था तो इतना हल्ला-गुल्ला करने और लिखने-लिखाने आदि का परिश्रम करने की क्या आवश्यकता थी ?

हिन्दी साहित्य का इतिहास : समस्याएं और समाधान—ले० श्री वेद प्रकाश गर्ग; प्र० कुसुम प्रकाशन, नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी, मुजफ्फरनगर-२५१००१; २००० ई०; पृ० २८०; मू० रु० ३००/-

हिन्दी साहित्य के आदिकाल के ९, भक्तिकाल के १२, रीतिकाल के १२ और आधुनिक काल के ५ प्रकरणों पर श्री वेद प्रकाश गर्ग ने गम्भीर गवेषणा करके नवीन सामग्री समीक्षात्मक दृष्टि से प्रस्तुत की है। विगत ५० वर्षों में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित ३८ लेखों का संकलन प्रस्तुत पुस्तक में है। चन्द बरदाई, सन्त पीपा और सन्त रैदास के समय-निर्धारण पर प्रस्तुत विवेचन, **छिताई चरित** और कृष्ण भक्त कवयित्री ताज का परिचयात्मक विवरण, **शिवराज भूषण**में 'गुसलखाना' प्रसंग का खुलासा, और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कृतित्व का मूल्यांकन तथा प्रेमचन्द के समग्र साहित्य की तालिकाबद्ध सूचियां, महत्वपूर्ण हैं। साहित्य के इतिहास ही नहीं, वरन् भारत के सामान्य इतिहास के लिए भी इनका उपयोग है।

श्री गर्ग मनस्वी अध्येता रहे हैं। उनके लेख यथावश्यक संदर्भों से सज्जित हैं। कुछ लेख समय-समय पर **शोधादर्श** में भी प्रकाशित हुए हैं और उनके **हिन्दी साहित्य की भ्रान्तियां और उनका निराकरण** लेख संग्रह का परिचय भी **शोधादर्श**-२३ में दिया गया है। समस्या को पकड़ना और उपलब्ध सामग्री की समीक्षा कर उसका तलस्पर्शी विवेचन करना एक दु:साध्य कार्य है, जिसे श्री गर्ग ने समुचित रूप से सम्पादित किया है।

—डॉ० शशि कान्त

समाचार विमर्श

—श्री अजित प्रसाद जैन

दान-पर्व-अक्षय तृतीया का जीवन्त अभिनय

सभ्यता के आदि काल में वनवासी मानव कबीलों को प्रकृति की उदारता पर ही निर्भर न रह कर पुरुषार्थ द्वारा कृषि करने का प्रथम पाठ पढ़ाने वाले, कर्म भूमि के सृजक, आदि पुरुष, भगवान ऋषभदेव जब अपने दीर्घ जीवन का ८३/८४ भाग अपूर्व यश-ख्याति के साथ सुखोपभोग में बिता चुके थे तो एक नर्तकी का नृत्य करते-करते सहसा प्राणान्त हुआ देख कर इस असार संसार से तथा इन्द्रिय जन्य सभी भोगोपभोग से पूर्ण विरक्त हो गये। मानव समाज के प्रथम राजा ऋषभदेव ने राजपाट, परिजन, पुर, पुरजन सबका त्याग कर अमरत्व की खोज में जंगल की राह ली, समस्त परिग्रहों का त्याग किया और एक वृक्ष के तले शिला खण्ड पर बैठ कर ध्यानस्थ हो गये। जब ध्यान टूटा तो छह महीने बीत चुके थे। तब शरीर रक्षार्थ भोजन की आवश्यकता महसूस हुई। जंगल के कन्द-मूल फलों से क्षुधा के शमन को अपने द्वारा स्वीकार किए अदत्ता-दान (अचौर्य) व्रत का अतिक्रम मान कर जंगल से निकल कर वह भोजन की गवेषणा में मानव बस्तियों में विचरण करने लगे। ग्राम-वासी उनके लिए नाना प्रकार के उपहार भेंट स्वरूप लाते पर वह प्रसन्न मुद्रा के साथ उनको नकारते हुए अगली बस्ती की ओर अपने पग बढ़ा देते। उन्हें भोजन के लिए आग्रह करने का किसी को ख्याल नहीं आता। उस समय तक कभी किसी को किसी से भोजन की याचना की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। कन्द-मूल फलों से सम्पन्न वृक्ष यत्र-तत्र मौजूद थे ही और अनेक जन उन्हीं से अपनी उदरपूर्ति करते थे ही। योगी राज ऋषभदेव प्रथम भिक्षु तो थे पर याचक नहीं थे। वह किसी को अपनी आवश्यकता बताते नहीं थे। साधिक छह मास तक क्षुधा-तृषा की वेदना को समता पूर्वक सहन करते हुए अन्त में वह अपने ही पौत्र सोमप्रभ-श्रेयांस कुमार की नगरी हस्तिनापुर पहुंचे।

अपने वातायन से परम श्रद्धेय पितामह को वैशाख की दुपहरी में अलिन मुख, मन्द गति से, अनायास आते देख कर श्रेयांस कुमार हर्ष विभोर हो गये। वह दौड़ कर उनके पास गए और नवधा भक्ति पूर्वक योगीराज को अपने आवास में ले आए। वहाँ तुरन्त ही खेत से आये इक्षु (गन्ने) के ढेर पड़े थे। वह जानते थे कि पूज्य पितामह को इक्षु बहुत प्रिय है। इक्षु को खेत में बो कर उगाना भी तो उन्होंने ही सिखाया था और इस प्रकार उगाने से इक्षु में मधुरता और रस में कहीं अधिक वृद्धि हो गई थी। ग्रीष्म ऋतु में तो वैसे भी अपनी मधुरता एवं शीतलता प्रदायी प्रकृति के कारण इक्षु रस इस पृथ्वी लोक का अमृत था। श्रेयांस कुमार ने कुछ उत्तम इक्षु दण्ड बड़ी विनय और भक्ति पूर्वक योगीराज की ओर बढ़ाए तो उन्होंने अपनी अंजुली उनके सम्मुख कर दी। उनका आशय समझ कर श्रेयास कुमार ने इक्षु दण्ड मोड़ कर रस से उनकी अंजुलि भर दी। दीक्षा के साधिक एक वर्ष बाद प्रभु का प्रथम पारणा हुआ। दीक्षा कल्याणक का समापन हुआ, श्रेयांस कुमार ने अक्षय पुण्य का अर्जन किया। 'अहो दानं, अहो दानं' कह कर सबने श्रेयांस कुमार के भाग्य को सराहा। धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन के पूर्व ही श्रावक धर्म के प्रतीक दान-तीर्थ की स्थापना हुई। वैशाख शुक्ल तृतीया को अक्षय तृतीया का पर्व इसी महादान की स्मृति को संजोये हुए है। इस पर्व की पावन स्मृति में अनेकों साधु एवं श्रावक जन आज भी वर्षी तप या सामर्थ्यानुसार उपवास कर इस दिन इक्षु रस से पारणा करते हैं। हस्तिनापुर तीर्थ क्षेत्र पर पारणे का विशेष महत्व माना जाता है।

दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका (मई २००० ई०) में इस वर्ष अक्षय तृतीया के पर्व को जीवन्त अभिनय द्वारा मनाये जाने का निम्नलिखित समाचार चिन्तनीय है—

"श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, अहिंसा विहार, रोहिणी, नई दिल्ली में अ० भा० दि० जैन महिला संगठन (दिल्ली प्रदेश इकाई) द्वारा दि० ७ मई को अक्षय तृतीया का पर्व एक बालक को

मुनि वेश में विधिवत पड़गाह कर भ० ऋषभदेव को इक्षु रस के प्रथम आहार दान का जीवन्त अभिनय प्रस्तुत किया गया।....."

दिगम्बर जैन आम्नाय में तीर्थंकर देव व साधु परमेष्ठि के रामलीला की तर्ज पर जीवन्त अभिनय प्रस्तुत करने की परम्परा नहीं रही है। ऐसा करना इन परम पूज्य पदों का अवर्णवाद ही है। कहीं-कहीं तीर्थंकर प्रभु की जन्म-जयन्ती पर किसी शिशु को पालने में लिटा कर तीर्थंकर शिशु के पालना झुलाने का कार्यक्रम किया जाने लगा है। हमारी दृष्टि में वह भी तीर्थंकर देव का अवर्णवाद है। दिगम्बर जैन आम्नाय में ब्रह्म गुलाल मुनि की कथा बड़ी लोक प्रिय है। गृहस्थावस्था में वह राजनट थे तथा विभिन्न प्रकार के स्वांग भरने में अति निष्णात थे। एक बार राजा ने दिगम्बर जैन मुनि का स्वांग भर कर आने का आदेश दिया। उन्होंने एक मास की मोहलत मांगी तथा नियत दिन पूर्ण दिगम्बर मुनि वेश में राजसभा में पधारे, सबको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दे कर निर्विकार भाव से राजनर्तकी का कामुक नृत्य देखा, तदुपरान्त धर्मोपदेश दिया। राजा तथा दरबारियों ने उनके अभिनय की भूरि-भूरि सराहना की, राजाज्ञा से उनके लिए बहुमूल्य उपहार लाये गए। उपहारों को अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—"राजन् मुझे अब इन उपहारों से कोई प्रयोजन नहीं, मैंने तो अब अपरिग्रह महा-व्रत धारण कर लिया है। दिगम्बर जैन मुनि का अभिनय नहीं किया जाता, वह तो जीया जाता है। मैंने एक मास तक संयम का अभ्यास किया तथा आज ही परम कल्याणकारी जैनेश्वरी दीक्षा ली है।" यह कह पीछी-कमण्डल उठा, वह सीधे वन गमन कर गये और ध्यान तपस्या में लीन हो गये।

कुछ वर्ष पूर्व महावीर जयन्ती के सुअवसर पर धर्म नगरी भिण्ड में एक आचार्य श्री ने मंच पर भ० महावीर के रूप में तपस्या करने का अभिनय प्रस्तुत किया था जिसमें भगवान पर हुए विभिन्न उपसर्गों को भी दर्शाया गया था। आचार्य श्री महावीर के रूप में आहारचर्या के लिए भी निकले तथा उन्होंने हथकड़ी-बेड़ियों में

जकड़ी चन्दनबाला से आहार दान लिया। तत्क्षण चन्दन की हथकड़ी-बेड़ियों के टूट कर गिरने का दृश्य भी दिखाया गया था। आचार्य श्री के जीवन्त अभिनय की दर्शकों ने तो भूरि-भूरि सराहना की ही, स्वयं आचार्य श्री भी बड़े प्रमुदित हुए। इस समाचार को पढ़ कर हमने उनमें कुशल अभिनेता के गुण लिख दिये थे जिससे वह हमसे बड़े रुष्ट हुए थे और उनका रोष कदाचित् अभी तक कायम है।

हमें भक्ति के अतिरेक में तीर्थंकरों तथा पंच परमेष्ठियों के अवर्णवाद से बचना चाहिए।

जिनवाणी वेदी प्रतिष्ठा

"कानपुर—दि० २ मार्च २००० ई० को श्री आदिनाथ दि० जैन पंचायती मन्दिर, जनरलगंज, में मुनि श्री अमित सागर म० के ससंघ सानिध्य में **कानपुर नगर के इतिहास में पहली बार जिनवाणी वेदी प्रतिष्ठा की गई।**"

—जैन गजट, २७ मार्च, २००० ई०

दिगम्बर जैन आम्नाय के तारण पंथी सम्प्रदाय द्वारा अपने चैत्यालयों में जिन प्रतिमा के स्थान में जिनवाणी को (शास्त्र रूप में) वेदी में प्रतिष्ठित कर उस ही की पूजा-उपासना करने की परम्परा है। इस परम्परा का उद्भव तो मध्य काल में धर्म-विरोधी मूर्ति-भंजकों से जैनधर्म व धर्मायतनों के रक्षार्थ एक आपातकालीन व्यवस्था के रूप में हुआ था पर अब वह रूढ़ हो गई है। तथापि इस परम्परा का चलन तारण पंथी (या समैया) समाज के बाहुल्य वाले मध्य प्रदेश के कुछ जिलों तक ही सीमित चला आ रहा है।

प्रत्येक जिन मन्दिर में वेदी में प्रतिष्ठित जिनेन्द्र प्रतिमा के अतिरिक्त शास्त्र ग्रन्थों की न्यूनाधिक संख्या में विद्यमानता अनिवार्य मानी जाती है। मन्दिर का शास्त्र भण्डार ही मन्दिर में प्रतिष्ठित जिनवाणी है तथा विनयपूर्वक शास्त्र का पठन-वाचन-स्वाध्याय ही जिनवाणी की पूजा-उपासना है। जिन मन्दिर में वेदी में शास्त्र को प्रतिष्ठित कर पूजा के अर्घ्य चढ़ा देना मात्र तो कदाचित् शास्त्र-

मूढ़ता ही कही जायेगी। तारण समाज के चैत्यालयों के अतिरिक्त किसी जिन मन्दिर में जिनवाणी वेदी प्रतिष्ठा का समाचार पहली बार ही पढ़ने में आया है।

जैन महातीर्थ पालीताना में मांस बिक्री

"गुजरात सरकार ने जैन महातीर्थ पालीताना में मांस बिक्री की दुकानों के लाइसेंस की अनुमति देने का निर्णय लिया है। **पालीताणा जैनधर्म का सबसे प्राचीनतम महातीर्थ है** जहां पर जैन धर्म के संस्थापक तीर्थंकर भगवान आदीश्वर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया था।.....इस महातीर्थ पर सैकड़ों जैन मन्दिर हैं।.....प्रति वर्ष यहां पर सैकड़ों साधु-सन्त तथा हजारों जैन धर्म के अनुयायी चातुर्मास करते हैं तथा विशेष धर्म आराधना (जप तपादि) करते हैं।.....इस महातीर्थ पर प्रति दिन दर्शनार्थियों का मेला लगा रहता है.....तथा वे विभिन्न धार्मिक आयोजन में भाग लेते रहते हैं। ऐसी स्थिति में इस तीर्थ पर मांस की बिक्री की अनुमति देना भारतीय संविधान के विरुद्ध है।.....गुजरात सरकार से अनुरोध है कि महातीर्थ पालीताणा में मास की बिक्री तथा मांस की दुकानों को लाइसेंस देने सम्बन्धी निर्णय को तत्काल वापस लें/रद्द करें अन्यथा भारत की सम्पूर्ण जैन समाज को मजबूर होकर अहिंसात्मक आन्दोलन का सहारा लेना पड़ेगा।"

—जैन मित्र, ६-४-२०००

हम भी उपरोक्त मांग का पुरजोर समर्थन करते हैं। धर्म नगरी पालीताणा सुप्रसिद्ध जैन तीर्थ क्षेत्र श्री शत्रुंजय गिरि की तलहटी में बसी है जहां से तीन पांडवों सहित आठ करोड़ महा-मुनियों ने दुर्धर तप कर मोक्ष गमन किया था तथा जो अन्य अनेकों महामुनियों की तपःस्थली है। इस तीर्थ क्षेत्र पर आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समवशरण के आने की भी मान्यता है। मुख्य रूप से भगवान ऋषभदेव की पुण्य स्मृति को समर्पित पाली-ताणा महातीर्थ गुजरात प्रदेश में जैन समाज का प्रमुख तीर्थ क्षेत्र है। पूर्ण अहिंसक जैन समाज के महान् धार्मिक क्षेत्र पालीताणा में

मांस की बिक्री खोल देने का गुजरात सरकार का निर्णय अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है जिसका डट कर विरोध किया जाना ही चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि हिन्दू धर्म के किसी भी प्रमुख धार्मिक क्षेत्र में मांस बिक्री की अनुमति नहीं हैं जबकि हिन्दू समाज पूर्णतया अहिंसक भी नहीं है।

उपरोक्त समाचार में पालीताणा को "भगवान ऋषभदेव की निर्वाण स्थली तथा प्राचीनतम महा तीर्थ" बताया गया है जो भ्रामक है। जैन धर्म की यह निर्विवाद मान्यता है कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने अष्टापद—कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। जैनधर्म का सर्वाधिक प्राचीन तीर्थ क्षेत्र भी इसी कारण अष्टापद–कैलाश माना जाता है या फिर, शाश्वत तीर्थ क्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी। जैन मित्र जैसे सुप्रतिष्ठित जैन साप्ताहिक पत्र में ऐसा भ्रामक उल्लेख होना बड़ा विचित्र लगता है।

मोरों की हत्या

मुरैना (म० प्र०) के जंगल में सैकड़ों मोर मृत पाए गये। मृत्यु विषाक्त भोजन से हुई पाई गई।

एक आशंका होती है कि कहीं यह हत्या भारी मात्रा में मोर पंख प्राप्त करने के लिए मोर पंखों के व्यापारियों द्वारा तो नहीं कराई गई? यह सर्व विदित है कि चातुर्मास में सभी दिगम्बर जैन मुनि, आर्यिका, ऐलक, छुल्लक, छुल्लिकाओं का मयूर-पिच्छी परिवर्तन बड़े समारोहपूर्वक सम्पन्न किया जाता है। इन सभी साधु-साध्वियों की संख्या ५००-६०० से कुछ अधिक ही होगी। जाहिर है इतनी भारी संख्या में मयूर-पिच्छियों का निर्माण मोरों द्वारा स्वतः छोड़े गये मोर पंखों से तो हो नहीं सकता। यदि मोर पंखों के व्यापारियों द्वारा मोरों की हत्या करके भी मोर पंख प्राप्त किये जाते हैं तो अहिंसा महाव्रतधारी साधुओं द्वारा मयूर-पिच्छ धारण करने तथा उसका उपयोग करुणा के उपकरण के रूप में किये जाने पर भारी प्रश्न-चिन्ह लग जाता है। हमारे समाज-

(शेष पृष्ठ २०५ पर)

अभिनन्दन

श्रीमती शोभा जैन, महू, को शोध-प्रबन्ध **पंच महाकाव्यों की सूक्तियों का समीक्षात्मक अनुशीलन** पर पी-एच०डी० उपाधि प्रदान की गई है।

श्री मनोज कुमार जैन, अम्बाह, को शोध-प्रबन्ध "चम्बल संभाग में राष्ट्रीय आन्दोलन एवं राजनैतिक चेतना : एक अध्ययन" पर जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, द्वारा पी-एच०डी० उपाधि प्रदान की गई। १८५७–१९४७ में चम्बल अंचल में स्वातन्त्र्य संघर्ष में जैन धर्मानुयायियों के योगदान का भी समुचित आकलन है।

श्री देवेन्द्र कुमार जैन, मुम्बई, का शोध-प्रबन्ध **Computation Frame of Trivikrama's Prakrit Grammar** पर लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच०डी० उपाधि प्रदान की गई।

सुश्री सरोज चौधरी, इन्दौर, को शोध-प्रबन्ध **प्रमुख जैन पुराणों में प्रतिपादित राजनीति का समीक्षात्मक अध्ययन** पर देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर, द्वारा पी-एच०डी० उपाधि प्रदान की गई।

डॉ० अनिरुद्ध कुमार शर्मा को उनकी कृति **श्रीमद्बाग्भट विरचित नेमिनिर्वाणम्—एक अध्ययन** पर **महावीर पुरस्कार** (१९९९) तथा **दिगम्बर जैन मन्दिर महासंघ, जयपुर,** को उनके प्रकाशन **दिगम्बर जैन मन्दिर परिचय जिला जयपुर (ग्रामीण अंचल)** पर **ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार** प्रदान किया गया।

जसवन्त धर्मार्थ ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा **डॉ० सत्यरंजन बनर्जी**

(पृष्ठ २०४ का शेष)

प्रमुखों को मोरों की इस सामूहिक हत्या में निहित कारणों की गहरी छानबीन करानी चाहिए तथा यदि ऊपर व्यक्त की गई आशंका में कुछ भी सत्यांश पाया जाए तो हमारे पूज्य आचार्यों तथा गणिनी आर्यिकाओं को मयूर-पिच्छि के विकल्प पर गंभीर चिन्तन करना चाहिए। आखिर जैन धर्म के अन्य सम्प्रदायों के साधु-साध्वियों ने भी मयूर-पिच्छि के विकल्प अपनाए हुए हैं। ★

को उनकी प्राकृत-वाङ्मय-सेवाओं के निमित्त **आचार्य हेमचन्द्र सूरि पुरस्कार** (१९९९) प्रदान किया गया।

श्री कैलाश चन्द्र जैन स्मृति न्यास, खतौली, द्वारा प्रवर्तित **जैन विद्वत् रत्न सम्मान डॉ० जयकुमार जैन**, मुजफ्फरनगर, को दिया गया।

वाग्भारती पुरस्कार (१९९९) **डॉ० सुरेन्द्र जैन 'भारती'**, बुरहानपुर, को प्रदान किया गया।

डॉ० अशोक कुमार जैन को श्रेष्ठ प्रवचनकार के रूप में पं० शिवचरन लाल जैन, मैनपुरी, द्वारा स्थापित **वर्णी वाग्देवी पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

ऋषभांचल ध्यान योग केन्द्र, गाजियाबाद में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल **श्री सूरजभान** द्वारा **डॉ० कपूर चन्द जैन** (खतौली) को उनकी पुस्तक **शूरवीरों की शौर्य गाथा** के लिए, **श्री कुलभूषण जैन** को पत्रकारिता के लिए और **श्री नितिन जैन** को नई खोज करने के लिए सम्मानित किया गया।

आचार्य श्री विद्यानन्द के ७५वें जन्म दिवस पर आयोजित 'पीयूष पर्व' में **ब्र० कमलाबाई (श्री महावीर जी)** को **साहू अशोक जैन स्मृति पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

समाजसेवी **श्री निर्मल कुमार जैन सेनानी** (सिरोंज) को सांची में **जैन रत्न** की उपाधि से सम्मानित किया गया।

जापान के सम्राट की ओर से सी० एस० आई० आर० के मानद वैज्ञानिक **डॉ० अशोक जैन** को उल्लेखनीय योगदान के लिए विशेष पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी, लखनऊ, को उनकी कृति **जैन धर्म कलाप्राण भगवान ऋषभदेव** पर **ज्ञानोदय पुरस्कार** (१९९८), **प्रो० राधाचरण गुप्त**, झांसी, को उनकी कृति **जैन गणित** पर **कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार** (१९९८) और **श्री दीपक जाधव**, बड़वानी, व **डॉ० अशोक के० मिश्र**, फैजाबाद, को **अर्हत् वचन पुरस्कार** (१९९८) कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, द्वारा प्रदान किये गये।

धर्म, समाज एवं साहित्य की सेवाओं हेतु **पं० लालचन्द्र जैन**

'राकेश', गंज बासौदा, को **धर्म दिवाकर** की उपाधि से सम्मानित किया गया।

राष्ट्रीय वैश्य परिषद के समारोह में दिल्ली में **श्री भगतराम जैन** को **वैश्य रत्न** की उपाधि से सम्मानित किया गया।

भारतीय सैन्य सेवा आयोग द्वारा **श्री मनीष जैन** (सुपौत्र श्री अजित प्रसाद जैन, प्रधान सम्पादक, **शोधादर्श**) सैनिक अधिकारी सेवा के लिए चयनित हुए।

संघ लोक सेवा आयोग द्वारा १९९९ की परीक्षा से सर्वश्री **शोभित जैन** (इन्दौर), **संजय जैन** (दिल्ली), **राजीव जैन** (दिल्ली), **मनोज जैन** (कोटा), **अमित चौधरी** (दमोह), **वैभव बजाज** (दमोह) तथा **राजेश जैन** (दिल्ली) सिविल सर्विस के लिये चयनित हुए।

प्रमुख न्यायविद् और राज्य सभा सदस्य **डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी** को **इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र**, नई दिल्ली, का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

दिगम्बर जैन हायर सैकेन्डरी स्कूल, नबलखा, इन्दौर, को माध्यमिक शिक्षा मण्डल म० प्र० ने विगत वर्षों में सर्वोच्च परीक्षा परिणाम पर पुरस्कृत किया।

श्रीमती सुषमा जैन, सहारनपुर, को अमेरिकन बायोग्राफिकल इंस्टीट्यूट, कैरोलीना (यू० एस० ए०), द्वारा अपने सम्पादकीय मण्डल में ऑनरेरी सलाहकार नियुक्त किया गया।

राजस्थान के राज्यपाल न्यायमूर्ति अंशुमान सिंह द्वारा विशिष्ट चित्रकारी के लिए **श्रीमती महिमा जैन** को उत्कृष्ट कलात्मक सृजन हेतु सिद्धहस्त शिल्पियों के राज्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

अहिंसा इण्टरनेशनल, नई दिल्ली द्वारा **डॉ० के० आर० चन्द्रा**, अहमदाबाद, को **डिप्टीमल आदीश्वर लाल जैन साहित्य पुरस्कार**, **डॉ० अर्चना जैन**, सागर, को **भगवानदास शोभालाल जैन शाकाहार पुरस्कार**, **सुश्री रश्मि शर्मा**, नई दिल्ली, को **रघुवीर सिंह जैन जीव-रक्षा पुरस्कार** और **डॉ० अनुपम जैन**, इन्दौर, को **प्रेमचन्द जैन पत्र-कारिता पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

नोएडा में प्रख्यात विद्वान **पं० निहाल चन्द जैन**, बीना, को **गुरू आशीष पुरस्कार** (२०००) से सम्मानित किया गया।

भगवान महावीर फेडरेशन, चेन्नई, द्वारा डॉ० **कल्याण मोतीलाल गंगवाल**, पुणे, को अहिंसा एवं शाकाहार, **कैंसर इन्स्टीट्यूट**, चेन्नई, को स्वास्थ्य एवं शिक्षा, और **त्रिपुरा आदिवासी महिला सेवा समिति**, अगरतला, को लोक एवं समाज सेवा के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य, के लिए पुरस्कृत किया गया।

उपरोक्त सभी सम्मानित महानुभावों और संस्थाओं का उनकी उपलब्धि के लिए **शोधादर्श** परिवार अभिनन्दन करता है और उन्हें अपनी शुभ कामना प्रेषित करता है। ★

समाचार विविधा

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान विषयक संगोष्ठी

४ मार्च, २०००, को पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, में **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान** पर एक संगोष्ठी आयोजित हुई। प्रथम सत्र की अध्यक्षता कला मर्मज्ञ डॉ० रमेशचन्द्र शर्मा ने की, प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' की पुस्तक **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान** का विमोचन हुआ, अमेरिका से आये श्री सुलेख चन्द्र जैन ने विद्यापीठ को एक लाख रुपये प्रदान करने की घोषणा की, और मुख्य अतिथि उ० प्र० शासन के वित्त मन्त्री श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव ने भी विधायक निधि से एक लाख रुपये देने का वचन दिया। द्वितीय सत्र में डॉ० नन्दलाल जैन, डॉ० रतनचन्द जैन और डॉ० के० एम० त्रिपाठी के शोध पत्रों का वाचन हुआ; अध्यक्षता डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय ने की।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में विद्वत् सम्मान समारोह एवं संगोष्ठी

१४ मई को पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, में एक विद्वत् सम्मान समारोह आयोजित हुआ जिसकी अध्यक्षता पद्मविभूषण डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने की और मुख्य अतिथि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० वाई० सी० सिम्हाद्रि थे। जैनविद्या के

क्षेत्र में विशिष्ट शोध कार्य कर रहे जिन विद्वानों का सम्मान किया गया, उनके नाम हैं—प्रो० सिम्हाद्रि, प्रो० विद्यानिवास मिश्र, प्रो० सी० एस० उपासक, प्रो० आनन्द कृष्ण, प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी, प्रो० लक्ष्मी नारायण तिवारी, प्रो० रेवती रमण पाण्डेय, डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय, डॉ० मारुति नन्दन तिवारी, डॉ० कमल गिरि, डॉ० हरिहर सिंह, प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर', प्रो० सुदर्शन लाल जैन, डॉ० फूलचन्द जैन, डॉ० कमलेश कुमार जैन, डॉ० मुकुलराज मेहता, डॉ० भानु शंकर मेहता, डॉ० रत्नेश कुमार वर्मा, श्री क्रान्ति कुमार, श्री जमनालाल जैन और श्री सत्येन्द्र मोहन जैन ।

द्वितीय सत्र में प्रो० रेवती रमण पाण्डेय की अध्यक्षता में **आदर्श परिवार की परिकल्पना : धर्म शास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में** विषय पर संगोष्ठी हुई । विषय प्रवर्तन प्रो० भागचन्द्र जैन ने किया, और डा० दीनबन्धु पाण्डेय, श्री क्रान्ति कुमार, श्री जमनालाल जैन, डॉ० कमलेश कुमार जैन एवं डॉ० सुदर्शन लाल जैन ने आदर्श परिवार की परिकल्पना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये ।

भगवान ऋषभदेव संगोष्ठी

२१ मई को जम्बूद्वीप—हस्तिनापुर में **भगवान ऋषभदेव संगोष्ठी** पं० शिवचरन लाल जैन, मैनपुरी, की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई । संचालन डॉ० अनुपम जैन, इन्दौर, ने किया । गोष्ठी में उपस्थित विद्वानों ने भगवान ऋषभदेव की ऐतिहासिकता, उनकी शिक्षाओं और उनकी मानव सभ्यता एवं संस्कृति को देन, आदि पर प्रकाश डाला ।

भारतीय संस्कृति में शिव विषय पर संगोष्ठी

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल की स्मृति में २७-२९ मई को पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सभागार में राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, द्वारा **भारतीय संस्कृति में शिव** विषय पर त्रि-दिवसीय संगोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें ४० शोधपत्रों का वाचन हुआ । डॉ० भागचन्द्र जैन ने **पुराणों में ऋषभदेव और शिव**, डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन (नागपुर) ने **महाभारत और जिनसेन के**

आदिपुराण में वर्णित शिव, डॉ० अशोक कुमार सिंह ने **जैन संस्कृत नाटकों में शिव**, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने **जिनसहस्र नाम में उपलब्ध शिव नाम : एक विवेचन**, श्री ओम प्रकाश सिंह ने **अमरकोश में वर्णित शिवतत्त्व** और डॉ० शिव प्रसाद ने **विविधातीर्थकल्प में उल्लिखित कतिपय ज्योतिर्लिंग** पर शोधपत्रों का वाचन किया। प्रो० आनन्दकृष्ण ने संगोष्ठी में पढ़े गये शोधपत्रों की समीक्षा की।

आचार्य मानतुंग पर संगोष्ठी

भोपाल में मई मास में एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें मानतुंगाचार्य एवं उनकी सुप्रसिद्ध कृति **भक्तामर स्तोत्र** के विभिन्न पक्षों पर गवेषणात्मक आलेख पढ़े गये। संगोष्ठी का उद्घाटन श्री रतनलाल बैनाड़ा (आगरा) ने तथा संचालन प्राचार्य निहाल चन्द्र जैन (बीना) ने किया।

श्रुत पंचमी पर्व एवं शोध पुस्तकालय स्थापना दिवस

६ जून को तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, के चारबाग, लखनऊ, में स्थित शोध पुस्तकालय में श्रुत पंचमी पर्व एवं शोध पुस्तकालय स्थापना दिवस के उपलक्ष में **षट्खण्डागम** की प्रति के समक्ष माँ-जिनवाणी के वन्दन-स्तवन के उपरान्त श्री अजित प्रसाद जैन ने श्रुत पंचमी पर्व के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाला और यह स्मरण दिलाया कि जैन वाङ्मय के तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा प्रदान किये जाने के सद्उद्देश्य से इस शोध पुस्तकालय की स्थापना सन् १९७६ ई० में श्रुत पंचमी के दिन की गई थी। अनेक शोध छात्र और सामान्य पाठक इस पुस्तकालय से लाभ उठाते रहे हैं।

जयपुर से आये पत्रकार-विद्वान श्री प्रवीण चन्द्र छाबड़ा तथा डॉ० शशि कान्त ने भी पर्व के महत्त्व पर चर्चा की। श्री रमा कान्त जैन द्वारा वाणी-वन्दना और श्रीमती सितारा जैन द्वारा भजन प्रस्तुत किये गये।

कातन्त्र व्याकरण पर राष्ट्रीय सेमिनार

६-७ जून को श्री कुन्दकुन्द भारती के सौजन्य से और

आचार्य श्री विद्यानन्द जी के सानिध्य में नई दिल्ली में कातन्त्र व्याकरण पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई जिसमें ४ सत्रों में १८ जैन-अजैन विद्वानों ने अपने शोध पत्र प्रस्तुत किये। प्रो० डा० राजाराम जैन ने समीक्षा और रिपोर्ट प्रस्तुत की। **समन्वय वाणी** (अगस्त प्रथम पक्ष २०००) में प्रकाशित डा० राजा राम जी की रिपोर्ट में निष्कर्षत: टिप्पणी कि "इसमें सन्देह नहीं कि उक्त आयोजन से आ० विद्यानन्द जी की अभिलाषा आंशिक रूप में ही सही, पूर्ण हुई होगी", ध्यातव्य है।

जैनधर्म की प्राचीनता पर सेमिनार

११ जून को जम्बूद्वीप–हस्तिनापुर में जैनधर्म की प्राचीनता पर एक सेमिनार आयोजित हुआ जिसमें देश भर से पधारे विद्वानों, इतिहासकारों एवं पुरातत्वविदों ने भाग लिया।

डॉ० हीरा लाल जैन जन्म शताब्दी समारोह

१७-१८ जून को उज्जैन में दो सत्रों में आयोजित डॉ० हीरा लाल जैन जन्म शताब्दी समारोह में न्यायमूर्ति श्री एन० के० जैन, पूर्व सांसद श्री महेश दत्त मिश्र, वरिष्ठ पत्रकार श्री अवन्ती लाल जैन, डॉ० नेमीचन्द जैन, डॉ० अनुपम जैन, डॉ० धर्मचन्द जैन तथा डॉ० राजेन्द्र त्रिवेदी ने स्व० डॉ० हीरा लाल जी के प्राकृत-अपभ्रंश एवं जैन विद्या के अध्ययन सम्बन्धी अवदान पर प्रकाश डाला।

आचार्य नेमिचन्द्र पर संगोष्ठी

निवाई (टोंक, राजस्थान) में ३ जुलाई को **सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व** पर प्रतिष्ठाचार्य पंडित हंसमुख धरियावद के संयोजन में संगोष्ठी हुई जिसमें गृहस्थ एवं साधु विद्वानों ने गवेषणापूर्ण आलेखों का वाचन किया।

भगवान महावीर की २६सौवीं जन्म-जयन्ति

इस ऐतिहासिक अवसर को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के लिए देश की समग्र जैन समाज के एक केन्द्रीय संगठन के रूप में 'भगवान महावीर जन्म-कल्याणक महोत्सव महासमिति' का गठन किया गया है। इसके अध्यक्ष श्री दीप चन्द गार्डी (मुम्बई)

तथा कार्याध्यक्ष टाइम्स आफ इण्डिया की चेयरमैन श्रीमती इन्दु जैन हैं। यह भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति को कार्यक्रमों में सहयोग देगी तथा सामाजिक स्तर पर इसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में जन्म-कल्याणक समितियां गठित की जाएंगी। श्री एस० सी० शाह व श्री मांगी लाल सेठिया को उपाध्यक्ष, साहू रमेशचन्द्र जैन व श्री एल० एल० आच्छा को जनरल सेक्रेटरी तथा श्री राज कुमार जैन को कोषाध्यक्ष चुना गया है।

श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी की ओर से पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी की स्मृति में वर्ष २००० के पुरस्कार के लिए जैन धर्म, दर्शन, आदि विषयक मौलिक व सृजनात्मक कृति पुरस्कारार्थ आमन्त्रित हैं। नियमावली डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी', संयोजक, श्री वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार समिति, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी-२२१००१, से प्राप्त की जा सकती है।

महावीर पुरस्कार, ब्र० पूरणचन्द्र रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार और स्वयंभू पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित जैन विद्या संस्थान ने वर्ष २००० के महावीर व लुहाड़िया पुरस्कारों के लिए ३० सितम्बर २००० तक १९९६ के पश्चात प्रकाशित जैन धर्म, दर्शन, इतिहास आदि से सम्बन्धित पुस्तक/शोध-प्रबन्ध और स्वयंभू पुरस्कार २००० हेतु अपभ्रंश साहित्य अकादमी ने १९९५ के पश्चात प्रकाशित और पहले पुरस्कृत न हो चुकी अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनायें, आमन्त्रित की हैं। नियमावली आदि जैन विद्या संस्थान कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई मानसिंह रोड, जयपुर-४, से प्राप्त की जायें।

पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट तथा जैनधर्म दर्शन एवं संस्कृति सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित

'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' और 'पत्राचार जैनधर्म दर्शन एवं संस्कृति सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' का नवीन सत्र १ जनवरी, २००१, से आरम्भ होगा। नियमावली एवं आवेदन पत्र ३० सितम्बर, २०००, तक अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारक जी, सवाई राम सिंह रोड, जयपुर-४, से प्राप्त किये जा सकते हैं।

जैन धर्म पर सम्पूर्ण पुस्तक

अहिंसा इन्टरनेशनल ने हिन्दी में १६ परिच्छेदों में जैन धर्म पर एक सम्पूर्ण पुस्तक लिखाने की योजना बनाई हैं। इच्छुक विद्वान श्री सतीश कुमार जैन, महासचिव, अहिंसा इन्टरनेशनल, सी-३/३१२९, वसन्तकुन्ज, नई दिल्ली-११००७०, से सम्पर्क करें।

प्राकृत एवं अंग्रेजी ग्रन्थों का अनुवाद कार्य

नवीन इन्स्टीट्यूट ऑफ स्पिरिचुअल साइकालॉजी, तृतीय तल, 'नवीन हाउस', समक्ष सरदार पटेल सेवा समाज हॉल, निकट नवरंगपुरा, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद-३८०००६, ने हरिभद्रसूरि कृत **अनेकान्त जयपताका, स्याद्वाद-रत्नाकर** और Jain Theory of Non-absolutism के हिन्दी, गुजराती व अंग्रेजी में अनुवाद की योजना बनाई है। अनुवाद कार्य में सहयोग देने के इच्छुक विद्वान उक्त इन्स्टीट्यूट के निदेशक से सम्पर्क करें।

समग्र जैन साहित्य का सूचीकरण

जिन पुस्तकालयों, जैन मन्दिरों व व्यक्तिगत संग्रहों में पाण्डुलिपियाँ हैं, उनके पदाधिकारी, सम्बद्ध व्यक्ति और श्रमण संघ अपनी जैन पाण्डुलिपियों की सूची डॉ० महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज', शोधाधिकारी, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, ५८४, एम० जी० रोड, तुकोगंज, इन्दौर-४५२००१, को उपलब्ध करा दें ताकि उनका सूचीकरण किया जा सके।

उत्तम स्वास्थ्य के लिए शाकाहार

भारतीय पशु कल्याण समिति के डाक्टर्स फोरम द्वारा शाकाहार और स्वास्थ्य विषयक सुन्दर कार्ड और चार्ट जन हित में प्रकाशित किये गये हैं। डॉ० डी० सी० जैन, निदेशक, के-१६, ग्रीन

पार्क एक्सटेंशन, नई दिल्ली-१६, अथवा श्री निर्मल कुमार जैन, प्रचार मन्त्री, पी-७, ग्रीन पार्क एक्स०, नई दिल्ली-१६, से प्राप्त किये जा सकते हैं।

पर्यूषण पर्व पर छूट

मेघ प्रकाशन, २३९, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६, ने पर्यूषण पर्व पर अपने प्रकाशनों पर, रु० १०००/- साधिक मूल्य पर, ५० प्रतिशत की छूट देने का संकल्प किया है। ★

शोक संवेदन

२ मई, २०००, को पुणे में मराठी पत्र **ज्ञानशलाका** की सम्पादिका श्रीमती वासंति पानाचंद शाह का निधन हो गया।

१५ मई को लखनऊ में ७५-वर्षीय अवकाश-प्राप्त आई० ए० एस० श्री ज्ञानचन्द जैन गम्भीर बीमारी के बाद नहीं रहे।

२६ मई को मलकापुर (जिला बुलढाना) में खरतरगच्छाधिपति आचार्य श्री जिनमहोदयसागरसूरि महाराज का समाधिपूर्वक महाप्रयाण हो गया।

३० मई को दिल्ली में ८८-वर्षीय प्रख्यात विद्वान डॉ० राम विलास शर्मा का निधन हो गया।

८ जून को लखनऊ में ७८-वर्षीय लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार एवं ब्रज भाषा के कवि पं० गजेन्द्र नाथ चतुर्वेदी नहीं रहे।

१४ जून को झांसी में **शोधादर्श** के आजीवन अभिदाता अध्यात्म-प्रेमी ७२-वर्षीय आजीवन ब्रह्मचारी श्री कैलाश चन्द्र जैन का निधन हो गया।

जून में ही मुम्बई में **जैन जगत** (मासिक) के सम्पादक श्री शांति प्रसाद जैन का निधन हो गया।

६ जुलाई को श्राविका संस्थान नगर, सोलापुर, की संचालिका विदुषीरत्न पद्मश्री ब्र० पं० सुमतिबाई शहा का समाधिमरण हो गया।

९ जुलाई को इन्दौर में दिगम्बर जैन महासमिति के संरक्षक श्री मानकचन्द काला नहीं रहे।

११ जुलाई को बंगलौर में गहन चिंतक एवं प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित ८९-वर्षीय विद्या भूषण श्री शान्तिलाल वनमालीदास शेठ नहीं रहे।

२१ जुलाई को इन्दौर में ६९-वर्षीय श्री राजा बहादुर सिंह कासलीवाल नहीं रहे।

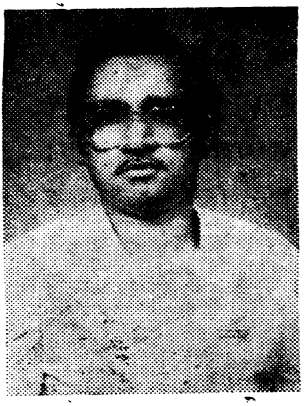

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, के आजीवन सदस्य, और समिति के संस्थापक-महामन्त्री एवं **शोधादर्श** के प्रधान सम्पादक श्री अजित प्रसाद जैन के कनिष्ठ पुत्र, ५५-वर्षीय सुश्रावक श्री मणि कान्त जैन का गुर्दे की लम्बी बीमारी के बाद लखनऊ में २१ जुलाई को असामयिक निधन हो गया। उनकी पुण्य स्मृति में निकाली गई दान राशि में से **शोधादर्श** को रु० १०१/- भेंट किये गये।

उपरोक्त सभी दिवंगत के प्रति **शोधादर्श** परिवार अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, आत्मा की चिरशांति और सद्गति के लिए प्रार्थना करता है, और स्वजनों-परिजनों के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

आभार

श्री नेमिचन्द जैन, कानपुर, ने समिति के शोध पुस्तकालय को The Collected Works of Vivekanand के आठ खण्ड भेंट किये।

श्री गया प्रसाद तिवारी 'मानस', लखनऊ, ने अपनी आठ काव्य कृतियां समिति के शोध पुस्तकालय को भेंट की।

डॉ० ताराचन्द जैन अग्रवाल, पचेवर, ने अपने पिता श्री पांचूलाल जैन अग्रवाल की सोलहवीं पुण्य स्मृति में तथा माता श्रीमती कपूरी देवी की ११वीं पुण्य स्मृति में **शोधादर्श** को रु० ४०/- भेंट किये।

डॉ० शशि कान्त और श्री रमा कान्त जैन ने अपने पूज्य पिताश्री इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डॉ० ज्योति प्रसाद जैन की १२वीं पुण्यतिथि पर **शोधादर्श** को रु० ५१/- भेंट किये।

पाठकों की दृष्टि में

शोधादर्श-४० में सभी स्तम्भ परम्परागत रूप में अक्षुण्ण हैं। हेमचन्द्र सूरि, श्रावक कवि आसिगु, शोध समीक्षा आदि लेख ज्ञान-वर्धक हैं। डॉ० ज्योति प्रसाद जी का अंग्रेजी लेख भगवान महावीर की सर्वकालिकता एवं सार्वभौमिकता का प्रतिपादक है। डॉ० शशि कान्त जी का जीवदया सम्बन्धी लेख तर्कपूर्ण एवं विचारणीय है। लेख का अन्तिम भाग बड़ा भावपूर्ण हो गया है। समाज चिन्तन सम्बन्धी लेख रूढ़िवादिता से मुक्त तथा स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की कामना से युक्त है। 'जैन दर्शन और पर्यावरण संरक्षण' शीर्षक लेख जैन धर्म एवं दर्शन की समाज-सापेक्षता की ओर इंगित करने वाला है। जैन समाज के लोगों की उपलब्धियों एवं जैन संस्थाओं की गतिविधियों का परिचय जैनियों के लिए तो प्रेरणास्पद है ही, अन्य समाज के लोगों में भी चेतना का संचार करने वाला है। 'सम्पादकीय' की निष्पक्षता एवं निर्भीकता सराहनीय है।

—(डॉ०) ओम प्रकाश त्रिवेदी, लखनऊ

It is a scholarly journal which is useful for students of ancient India.

—(Prof. Dr.) R. S. Sharma, Patna

शोधादर्श के प्रत्येक अंक में जैन धर्म और साहित्य के बारे में नयी जानकारी मिलती है, अगर मैं यह कहूँ कि **शोधादर्श** का प्रत्येक अंक ज्ञान का भण्डार होता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कितने ही ऐसे विषयों पर जानकारी मिलती है जो साधारण जैनियों को आसानी से उपलब्ध नहीं होती। भाई रमा कान्त जी के लेखों के पीछे कितना शोध कार्य और परिश्रम होता है यह उनको पढ़ने से ही अन्दाजा किया जा सकता है। प्राचीन जैन साहित्य के बारे में वह बहुमूल्य जानकारी दे रहे हैं। भाई शशि कान्त जी तो जाने-माने विद्वान हैं। आदरणीय भाई साहब डॉ० ज्योति प्रसाद के पुराने लेख छाप कर केवल उनकी याद ही नहीं बनाये रखते, पाठकों का ज्ञान भी बढ़ाते हैं। मुझे तो पढ़ कर बहुत ही आनन्द

आता है। आपके सम्पादकीय लेखों की जितनी प्रशंसा करूँ कम है। चाहे धर्म में बढ़ती हुई विसंगतियां हों, चाहे समाज में बढ़ती हुई कुरीतियां या समाज, समाज के लीडरों और धर्माचार्यों के आचार-विचार पर टिप्पणी, सभी में स्पष्टवाक्ता, निडरता, निर्भीकता देखता हूं। चूंकि आम तौर पर मैं आपके सभी विचारों से सहमति रखता हूं, आपके लेख पढ़ कर खुशी होती है, और बल मिलता है।

—शान्ति प्रकाश जैन, (आई.ए.एस. रिटा.), मेरठ

शोधादर्श उत्तम पत्रिका है जिसमें गहन चिन्तनमय आलेख पढ़ने को मिलते हैं। आपकी पत्रिका में पुस्तकों की जितनी सुन्दर, विस्तृत व स्पष्ट समीक्षायें पढ़ने को मिलती हैं, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती हैं।

—दुलीचन्द जैन, चेन्नई

जैन धर्म और समाज के प्रति सम्भवत: सर्वाधिक जागरूक प्रहरी का कार्य-निष्पादन कर रही है **शोधादर्श** पत्रिका। जैन मुनियों की चारित्रिक शिथिलता, भगवान बन कर पूजे जाने की लालसा और उनकी अन्धभक्ति में मदान्ध श्रावक-श्राविकाएं आपकी चिन्ता और खरी आलोचना के ज्वलन्त विषय बन कर इस पत्रिका के पन्नों पर मुखर हो रहे हैं तथा इस प्रकार जैन समाज के सुधी एवं सुविचारकों को सोचने, विचारने और सुधार करने का सन्मार्ग सुझा रहे हैं। यह साहसी और शोधपरक दायित्व मेरी दृष्टि में अकेले जैन धर्म से जुड़े व्यक्तियों का ही नहीं, अपितु देश के सर्व-सामान्य का भी है। इस सन्दर्भ से जुड़े आपके सम्पादकीय और टिप्पणियां प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं। इस चिन्तनीय विषय से भरा है श्री मूल चन्द जैन का लेख 'कलंकित होने से बचाओ' तथा श्री अजित प्रसाद जैन की टिप्पणी 'वैष्णवीकरण के बढ़ते चरण'।

किन्तु क्षमा याचना सहित विनम्र निवेदन है कि यह 'वैष्णवी-करण' शब्द क्या वैष्णव धर्मावलम्बियों के प्रति अवहेलना और तिरस्कार का भाव नहीं प्रकट करता है? और क्या किसी धर्म अथवा पन्थविशेष का नाम लिए बिना वांछित भाव प्रकट करने वाला शीर्षक

नहीं बन सकता था ? मेरी समझ में इस शब्द के माध्यम से उस अहिंसा की भावना को चोट पहुंचती है जो जैन धर्म और जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र है।

—(डॉ०) ए० एल० श्रीवास्तव, भिलाई

['वैष्णवीकरण' से यहां आशय 'सरागी देवी-देवताओं की पूजा-उपासना' से है, वैष्णव धर्म के प्रति अवहेलना या तिरस्कार का भाव नहीं है।—श.का.]

आपका सम्पादकीय सदैव की भांति प्रासंगिक चिन्ताओं तथा प्रश्नों को उकेलता है। आपको प्राप्त पुरस्कार के लिए शुभ भावना। आपकी निर्भीकता के लिए बहुत ही धन्यवाद-साधुवाद! कृपया डरो नहीं, सत्य को पकड़ के रखो। आजकल शिथिलाचारी भ्रष्ट एवं आडम्बर सहित मुनियों को उखाड़ फेंकना बहुत जरूरी है। लेख आदि अपनी-अपनी जगह आदरणीय एवं उच्चकोटि के हैं। कुछ लेख तो ऐसे हैं कि बार-बार पढ़ने का मन करता है फिर भी मन नहीं भरता। साहसिक उत्तम-श्रेष्ठ प्रयाण प्रयास है।

—मुनि विनयभद्र सागर, पालिताना

आपका सम्पादित अंक उन्नत सामाजिक जानकारियों, तत्त्व-ज्ञान, आगम ज्ञान, इतिहास एवं चारित्र निष्ठता के संस्कारों से युक्त रहता है। जिन शासन की उन्नति एवं सुरक्षा पक्षकार आपका यह उपक्रम है। इस श्रम में आपके भाव और सूझ-बूझ उत्तम हैं।

—तिलोक मुनि, राजकोट

इस पत्रिका में आप कोई न कोई जानकारी अवश्य देते रहते हैं। इस बार सम्राट खारवेल व श्री णमोकार मन्त्र की जानकारी मिली, मन को कुछ नवीनतायें जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। देश के नाम 'भारत' की एक और पुष्टि आपने खारवेल के शिलालेख से की है; यह अत्यन्त सराहनीय है। शोधादर्श पढ़ने से मन को शांति मिलती है, और नई-नई बातों का ज्ञान होता है। आपको बधाई, और विश्वास है कि यह क्रम कभी भी रुकेगा नहीं।

—सुन्दर सिंह जैन, दिल्ली

सम्पूर्ण पढ़ कर ही छोड़ पाया हूं। पत्रिका में प्रकाशित विविधता से परिपूर्ण खट्टे, मीठे, कड़वे, कसैले लेख विचारणीय, चिन्तनीय, मननीय, पठनीय व प्रेरणास्पद लगे। आपका समाचार विश्लेषण हृदय को छू गया। 'आर्यिका द्वय की मनोव्यथा' पढ़ी, वास्तव में विचारणीय है। 'वैष्णवीकरण के बढ़ते चरण' पढ़ कर दुखित व आहत हूं। हमारे समाज के मुख्य तीन बिन्दु हैं मुनि, विद्वान व श्रेष्ठी परन्तु उनकी स्थिति आज क्या है, आप-हम एवं सभी अवगत हैं। समय पर बोलने वालों का मौनव्रत चल रहा है; न जाने उनका मौन किस बड़ी घटना को निमन्त्रण दे रहा है। सब अपने स्वार्थों में लिप्त हैं। समाज की स्थिति क्या है, कहां क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर नहीं है।

—(पं०) सुनील जैन 'संचय', नरवां (जि० सागर)

शोधादर्श के माध्यम से आपके बहुआयामी लेखन-कर्म तथा अनुसन्धान कार्य की जानकारी निरन्तर मिलती रही है। ऋषि-तुल्य विद्वान स्व० ज्योति प्रसाद जी जैन की परम्परा के संरक्षण-संवर्धन की दिशा में आप सक्रिय हैं, यह देख-जानकर हार्दिक प्रसन्नता होती है।

—(डॉ०) शैलेन्द्र कुमार शर्मा, उज्जैन

हमने तुरन्त ही इसके लेखों का व समाचारों का अध्ययन किया। आपके 'अभिनन्दन' की बात भी पढ़ी तो बहुत-बहुत अच्छा लगा। आप अपनी जीवन संध्या के काल में अति रोचक प्रेरणा दायक कार्य में रत हैं। कई बातें तो आपके इस पत्र से ही हमें विदित होती हैं।

—आनन्द प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

शोधादर्श-४० पढ़ा था। आप जैसे निडर वयोवृद्ध स्पष्ट लेखक ढूंढने पर भी न मिलेंगे।

—महावीर प्रसाद जैन, नई दिल्ली

सदा की भांति 'गुरुगुण-कीर्तन' का प्रभावी वर्णन उच्च स्तरीय है। अन्य स्थायी स्तम्भ तो समाज के प्रकाश स्तम्भ हैं, कहूं तो

अतिशयोक्ति नहीं होगी। समाचार विमर्श में 'हैप्पी बर्थडे टू यू', जैन समाज को कलंकित करने वाला प्रसंग है। तरस आता है प्रायोजकों और प्रोत्साहित करने वालों पर। यह तो डूब मरने वाली स्थिति है। अब समय आ गया है जब ऐसे साधुराजों को उनकी मर्यादा का भान कराया जावे। 'आर्यिकाद्वय की मनोव्यथा' का चित्रण भी चिन्ताजनक है। साहित्य सत्कार, समाचार विविधा, शोक संवेदन आदि सचमुच अच्छे स्तम्भ हैं। सम्पादकीय 'भट्टारक छुल्लक भी नहीं' आंख खोलने वाला है। अब दिगम्बर जैनों की साधु संस्था पर गम्भीर चिन्तन होना जीवन-मरण का प्रश्न बन कर रह गया है। दिगम्बर जैन समाज का अखिल भारतीय नेतृत्व कब चेतेगा, भगवान जाने।

—(सि०) मोतीलाल जैन 'विजय', कटनी

विविध जैन सूचनाओं से सुसम्पन्न शोधादर्श वस्तुतः शोधार्थियों के लिए आदर्श रूप ही है।

—(डॉ०) राम सजीवन शुक्ल, कोंच (जि० जालौन)

पढ़ कर यही लगा कि जैन समाज और संस्कृति की रक्षा और इसे पाखण्डों तथा गलत परम्पराओं से मुक्त करने के लिए जो संकल्प आपने लिया है, उसमें सभी बुद्धिजीवियों, विचारकों और धर्म से रूचि रखने वाले लोगों को ईमानदारी से अपना समर्थन और योगदान देना चाहिए। हर अंक में आप किसी समस्या को या रूढ़िवादी परम्परा को लेते हैं तथा उस पर जिस तरह के विचार व्यक्त करते हैं, वह अपने आप में सम्पूर्ण भारत में अकेला प्रयास रहता है। साथ ही साथ इस अंक में पर्यावरण तथा हाथीगुम्फा अभिलेख पर जो लेख दिये गये हैं, वह भी काफी जानकारी देने वाले हैं।

—(डॉ०) विनोद कुमार तिवारी, रोसड़ा (जि० समस्तीपुर)

श्री ज्ञान चन्द जैन का लेख 'कलिंगराज खारवेल का हाथी-गुम्फा शिलालेख' अच्छा लगा। 'साहित्य सत्कार' के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों की समीक्षा लिखने में परिश्रम किया गया है। 'समाचार

विमर्श' में 'आर्यिका द्वय की मनोव्यथा' तथा 'हैपी बर्थ डे टू यू' पर व्यक्त की गयी चिन्ता स्वाभाविक है। 'जीवदया–Prevention of Cruelty to Animals' में बड़ा विषादपूर्ण वर्णन है। सोचता हूं, आधुनिकता पूर्ण रहन-सहन ने भारतवासियों की गो सेवा को मन्द कर दिया है। गोबर की उपयोगिता अब समाप्त होती जा रही है। महलनुमा मकानों में गोशाला की कोई व्यवस्था नहीं होती। नई सभ्यता के लोग गाय की सानी-पानी नहीं करते। जानवरों के लिए पानी की चरही भी अब लोग नहीं बनवाते। गायों की दुर्दशा के लिये हम सब लोग जिम्मेदार हैं। सरकार से तो कोई आशा करना ही व्यर्थ है। आजादी के बाद भारत में मांसाहार का रिवाज बढ़ा है। अंकुर जैन की व्यथा हम सब की व्यथा है। ऐसे में मेनका गांधी की हम प्रशंसा करते हैं, जिनके हृदय में जीवों के प्रति दया है। डॉ० ज्योति प्रसाद जैन का आँग्ल भाषायी लेख सार गर्भित है। तीर्थंकर महावीर की शिक्षा कभी बासी नहीं हो सकती। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सार्वभौम और शाश्वत हैं।

–(डॉ०) परमानन्द जड़िया, लखनऊ

'गुरुगुण-कीर्तन' की प्रभावी प्रस्तुति अत्यन्त उपादेय है। 'Relevance of Lord Mahavira's Message Today and Tomorrow', 'जैन दर्शन और पर्यावरण संरक्षण', 'चिन्तन क्षणिका', 'शोध समीक्षा—कलिंगराज खारवेल का हाथीगुम्फा शिलालेख', 'जीवदया–Prevention of Cruelty to Animals' आदि स्तरीय लेख इस अंक के विशेष आकर्षण हैं। 'साहित्य सत्कार', 'समाचार विमर्श', अभिनन्दन आदि अनेक स्तम्भ सामान्यत: पठनीय हैं, जिनसे **शोधादर्श** की उपयोगिता बढ़ती है। समासत: **शोधादर्श** का यह स्तरीय अंक संग्रहणीय होकर श्रेष्ठ पत्रकारिता के उच्च प्रतिमान स्थापित करता है।

–(डॉ०) कैलाश नाथ द्विवेदी, प्राचार्य, कोंच (जि० जालौन)

सम्पूर्ण सामग्री २-३ बार पढ़ी और बहुत ही सन्तोष हुआ, खास कर आपका सम्पादकीय। आज के युग में भट्टारक संस्था की

कितनी, कैसी उपयोगिता है ?—इस पर विचार-विमर्श सब अंगों से (अस्ति-नास्ति) होना बहुत आवश्यक है। समाज-चिन्तन भी अच्छा लगा। बहुत आवश्यक है। ये सब बातें चिन्तनीय हैं।

—(प्रा०) सुमेरचंद जैन, सोलापुर

सदैव की भांति अंक अच्छा है।

—मदन मोहन वर्मा, ग्वालियर

शोधादर्श पत्रकारिता के मानदण्ड—आयाम पर है, बधाई।

—अनूप चन्द्र जैन, एडवोकेट, फिरोजाबाद

सभी अंकों की तरह ४०वां अंक भी ज्ञानवर्द्धक सामग्री से भरपूर है। हम सम्पादक मण्डल के आभारी हैं।

—(श्रीमती) राजदुलारी जैन, कानपुर

हम छात्रावस्था के प्रारम्भिक दिनों से ही इस पत्रिका के प्रशंसक रहे हैं। अंक ३८, ३९, ४० की समस्त सामग्री लघु ग्रन्थ सी है।

—कु० राखी, कु० रचना, सिंघई मुकुल जैन, कटनी

सम्पादकीय आकर्षक एवं विश्लेषणात्मक है। अतीत काल में जो भट्टारक हुए वे वास्तव में जैन धर्म-संस्कृति एवं साहित्य के सृजक एवं संरक्षक सिद्ध हुए हैं। उनका उस काल में महत्त्व रहा। यद्यपि जैन आगमों में भट्टारक पद का कोई उल्लेख नहीं है। फिर भी उस समय अर्थात् ई० सन् की दशवीं शताब्दी में उक्त परम्परा का आविष्कार हुआ जिसे समय की मांग ही कहा जा सकता है। मैंने श्रवणबेलगोला के चारुकीर्ति स्वामी जी की आहार-विधि प्रत्यक्ष रूप से देखी है, वह दिन में एक ही बार बैठ कर शुद्ध आहार एवं प्रासुक जल लिया करते हैं। उन्होंने आजीवन कतिपय चीजों का त्याग भी कर रखा है। लेकिन मुनि का भट्टारक बनना उनकी गरिमा के अनुकूल नहीं है। पं० नाथूराम शास्त्री का 'सचित-अचित विमर्श' नामक लेख मुझे बहुत भाया। भक्ष्य-और अभक्ष्य में भेद किये बिना सचित-अचित को समझना सम्भव नहीं है। मुनि को सचित चीजें अचित कर देने का विधान है। उक्त कथन का तात्पर्य यह कदापि

नहीं है कि आलू, कन्द आदि अभक्ष्य पदार्थ अग्नि आदि में पका कर मुनि को देने योग्य हैं। आदरणीय अजित प्रसाद जैन के ८३वें जन्मोत्सव पर मेरी हार्दिक बधाई।

—(डॉ० श्रीमती) जैनमती जैन, आरा

श्री कैलाश चन्द जी की चिन्तन-क्षणिका "मान-स्तम्भ" अति सुन्दर एवं प्रति-क्षण मननीय है। जिज्ञासा स्तम्भान्तर्गत "णमोकार महामन्त्र" के सन्दर्भ में डा० शशि कान्त की टिप्पणी कि पहले गाथा में मात्र 'नमो (या णमो ?) अरहंतानं' तथा 'नमो (या णमो ?) सव-सिधानं' नामक दो पद ही थे—पर आगमिक व तर्क संगत आधारों के आलोड़न की आवश्यकता है। श्री मूलचन्द जी जैन के "कलंकित होने से बचाओ" में उल्लिखित आचार्य श्री विद्यानन्द जी का मत कि 'दुराचार की उपेक्षा से दुराचार बढ़ता जाता है' अक्षरशः सही है। दुराचार के परिमार्जन एवं प्रतिबन्धन हेतु सम्यग्दर्शन के अमूढ़ दृष्टि सदृश अंगों का ही परिपालन आवश्यक है, न कि वात्सल्य, उपगूहन या स्थितिकरण के नाम पर छल-ग्रहण या/व छल का प्रचार। सम्पादकीय तथा "समाचार विमर्श" में आपकी चिर-परिचित स्पष्ट लेखनी के वे विचार-बिन्दु हैं, जिन्हें आप जैनत्व पर हो रहे कुठाराघात को उजागर करने के लिए सदा ही उठाया करते हैं। किन्तु, हृदय को पीड़ा होती है यह सब देख कर कि आज सद्भावनापरक ध्वनियां मात्र नक्कारखाने में तू-ती की आवाज बन कर रह गई हैं।

—मनोज कुमार जैन 'निर्लिप्त', अलीगढ़

आर्यिकाओं की नवधाभक्ति न तो मूलगुरूपरम्परा है और न आगम सम्मत ही है क्योंकि पूज्य आर्यिकायें, मुनि तुल्य संयमी या मुनिवत पूजा के योग्य नहीं हैं। उसी प्रकार सज्जातित्व की वर्तमान परिभाषा भी आगम उल्लिखित नहीं है। क्षेत्रपाल-पद्मावती की पूजा भी आगम सम्मत नहीं है। इन सब परम्पराओं को छोड़कर आगम परम्पराओं को अपना लिया जाए, और यदि ऐसा करने का

साहस न कर सकें तो कम से कम आगम के अनुसार चलने वालों पर आक्षेप करना तो बन्द होना चाहिये।

—रतनलाल बैनाड़ा, आगरा

व्यवहार और निश्चय में विवाद नहीं है। ये एक दूसरे के पूरक हैं। विवाद दोनों के समर्थकों में उनका सम्यक् ज्ञान न होने से है। व्यवहार लेन-देन, आदान-प्रदान की क्रिया है। निश्चय व्यवहार क्रिया का परिणाम है। व्यवहार की क्रिया कर्मबन्ध और कर्म निर्जरा दोनों में करना होती है। व्यवहार धर्म है जो धारण किया जाता है। निश्चय धर्म नहीं, उद्देश्य या लक्ष्य होता है जो पाने की क्रिया करने से प्राप्त होता है। लक्ष्य पर पहुंचने को व्यवहारिक क्रिया की सीढ़ी पर क्रमशः चढ़ कर जाना होता है। इस विवाद के होने के उत्तरदायी सामान्य जन के श्रद्धा के पात्र साधु वर्ग हैं जो तथ्य को न जानते हुए भी जानकार की तरह उपदेश देते हैं।

—(पं०) धन्य कुमार जैन, सिहोरा (जि० जबलपुर)

जैन गजट में एक खबर छपी है कि राजस्थान में अकालग्रस्त इलाके से मुनिवर विद्यासागर जी की प्रेरणा से ११०० गायें बड़ी श्रद्धा के साथ मध्य प्रदेश लायी गयीं। "गायों से भरी रेल जब पेन्ड्रा रोड रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म क्रमांक एक पर पहुंची तो वहां परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ४० दिगम्बर मुनियों तथा हजारों गो भक्तों के साथ उपस्थित थे। प्रसन्न मुद्रा में उन्होंने अनेक डिब्बों में झांक कर गायों का कुशलक्षेम देखा तथा इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि सभी गायें सुरक्षित मध्य प्रदेश आ गईं हैं।" यह पढ़ कर मीरा के भजन की पंक्ति याद आई "मीरा के प्रभु संतन सुखदाई, भगत वछल गोपाल"। कमी यह रही कि गायों का स्वागत फूल-मालाओं से नहीं किया गया। धन्य भाग्य गायों के! धन्य भाग्य हमारे! धन्य-धन्य हमारे मुनिगण!

—(जस्टिस) एम० एल० जैन, नई दिल्ली

[अहा हा, जयन्ति दिवस पर सज्जातीय वात्सल्य का क्या ही अनुपम उदाहरण!!—श.का.]

श्री रमा कान्त जी का 'गुरुगुण-कीर्तन' शोधपूर्ण एवं ज्ञान-वर्धक है। उक्त शीर्षक वाले समग्र लेखों पर उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि से विभूषित होना चाहिए। पूर्व में भी विद्वानों को उनकी प्रस्तावनाओं पर डॉक्टरेट की उपाधि से अलंकृत किया गया है। शोधादर्श समाज की गतिविधियों और नूतन साहित्य सृजन की जानकारी देकर अपनी जवाबदेही का पूरा निर्वाह कर रहा है। इसके लिए सम्पादक मण्डल बधाई के पात्र हैं।

श्री कैलाश चन्द जैन ने लिखा है कि "पंडित चटुकार हैं।" पंडित शब्द से लेखक का तात्पर्य तत्त्वज्ञान में पारंगत विद्वानों से है। श्री मूलचन्द जैन द्वारा भी विद्वान निन्दक शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैन सन्देश (१-३-२०००) में प्रो० राजा राम जैन ने अपने सम्पादकीय में लिखा है—"अभी हाल में बाराणसी के दो विद्वान मित्रों का हमें संयुक्त पत्र मिला है, जिसके शीर्ष पर छपा है—'सभी विद्वान कुत्ते हैं'। उक्त कथन एक वरिष्ठ दिगम्बर जैनाचार्य का है जो उन्होंने किसी एक प्रसंग में कहा था।" इसी प्रकार पं० पद्मचन्द शास्त्री ने अनेकान्त दर्पण (अंक २) में कहा है कि "पुरस्कार लोभी विद्वान आगम की रक्षा नहीं कर सकते। विद्वान पर्यूषण/पंचकल्याणक तक सीमित रह गये हैं.....।" एक संगोष्ठी में एक आचार्य ने विद्वानों को जो कहा था उसका तात्पर्य था कि विद्वान 'त्रियाचरित्र' वाले होते हैं। एक गरिष्ठ एवं वरिष्ठ रिटायर्ड विद्वान ने दूसरे ख्यातिलब्ध विद्वान को 'गधा और सड़ा-गला' मुझसे कहा था।

उक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि कुछ लोगों ने विद्वानों के आचार-विचार देख कर और अन्य ने ईर्ष्या से सन्तप्त होकर विद्वानों के प्रति उनकी पद-गरिमा के प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। उक्त कथनों का सार यह है कि विद्वान अमर्यादित होकर लोभी हो गये हैं। वह लोभ धन का भी हो सकता है और पद का भी। मांगना मरने से बुरा है। इससे विद्वान अपने भद्र परिणामों को विकृत न करें। आत्म-मन्थन करना चाहिए कि उक्त अलंकारों से

उन्हें अलंकृत क्यों किया जा रहा है ? विद्वान स्वाभिमान और अपनी विद्या की रक्षा नहीं कर पा रहे हैं। कर्त्तव्य-विमुख व्यक्ति निष्पक्ष नहीं हो सकता। इसलिए विद्वानों को पक्षपात रहित होकर स्वस्थ समाज की संरचना करने में योगदान देना चाहिए। किसी के सामने उपाधियों या अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों के लिए पुरस्कार की मांग कर दीनता प्रकट करना विद्वानों के स्वाभिमान के प्रतिकूल है। विद्वान समाज के प्रकाश स्तम्भ हैं। इस समय समाज को उनके प्रकाश की आवश्यकता है। अतः 'निन्दन्ति नीति निपुणाः स्तुवन्तु वा' को ध्यान में रख कर समाज के समक्ष वे अपना यथार्थोन्मुख आदर्श प्रस्तुत करें। अपने आचार-विचार और व्यवहार से समाज को प्रभावित करें। उक्त कथनों पर गम्भीरता से विचार कर आत्मशोधन और परस्पर में विमर्श करने का अवसर शोधादर्श ने दिया है, इसके लिए उसके प्रति मैं आभारी हूं।

—डॉ० लाल चन्द्र जैन, वैशाली

लेखक परिचय

श्री अजित प्रसाद जैन : पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ-२२६००४

पं० अमरचन्द जैन : श्री महावीर उदासीन आश्रम, कुण्डलपुर (जि० दमोह)-४७०७७३

ब्र० अशोक जैन : श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम, ५८४, महात्मा गांधी रोड, तुकोगंज, इन्दौर-४५२००१

श्री आदित्य जैन : ४२/२२, साकेत पल्ली, लखनऊ २२६००१

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव : C-९४, सेक्टर-ए, महानगर एक्स०, लखनऊ-२२६००६

डॉ० एम० डी० वसन्तराज : नं० ८६, नवां क्रास, नविलुरस्ते, कुवेम्पुनगर, मैसूर-५७००२३

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन (स्व०) : विश्व विश्रुत विद्वान

श्री तिलोक मुनि : श्री रायल पार्क स्थानक जैन मोटा संघ, ओमान वाला उपाश्रय, २, रॉयल पार्क, कालावाड रोड, राजकोट-३६०००५

श्री प्रकाश चन्द्र जैन : द्वारा नरेन्द्र जैन क्लाथ हाउस, २३, मोहन मार्केट, दूसरी गली, अमीनाबाद, लखनऊ-२२६०१८

श्री मूलचंद जैन : पोस्ट बाक्स नं० ५, दाल मील, हरदा (म० प्र०)-४६१३३१

डॉ० रज्जन कुमार : रीडर, अप्लाइड फिलासफी, आई.ए.एस.ई., एम.जे.पी. रोहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली-२४३००६

श्री रमा कान्त जैन : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

डॉ० राम सजीवन शुक्ल : रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, एवं पुरातत्त्व, एम. पी. पी. जी. कालेज, कोंच (जि० जालौन)-२८५२०५

डॉ० शशि कान्त : ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

श्री सुखमाल चन्द्र जैन : 'राजराजेश्वर भवन', एफ-३, ग्रीन पार्क (मेन), नई दिल्ली-११००१६

श्री ज्ञानचन्द जैन : 'शिखर भवन', २४५/३१, भवाना सिंह शिवाला रोड, निकट जैन मन्दिर, यहियागंज टाट पट्टी, लखनऊ-२२६००३